

प्रभावशाली आचार्य

ॐ श्री ऋग्रथन्द नाहुटा

पूज्यता का भाव :

आत्मा अनंत भक्ति का स्रोत है पर उसकी यह विभिन्न दबी हुई है, छिपी हुई है। उसे जो जितने अंश में प्रगट कर लेते हैं, वे उनमें ही अंश में पुज्य से महापुज्य बन जाते हैं। पुज्य रूप में तो व्यक्ति पंथ होता है और महापुज्य यमता है, अपने पुरुषार्थ और तत्त्वार्थों के। जो ज्ञान अपने गुणों का विकास कर केवल अपने उत्थान तक ही सीमित नहीं रहता, पर देश एवं समाज के उत्थान में अवश्य दूसरों के उत्थान में सहयोगी यमता है, वह पूज्य यम जाता है। पूज्यता चाहने से नहीं मिलती, गुणों से मिलती है। दूसरे व्यक्ति स्वयं उनके गुणों के अकृदित होकर पूज्य भाव रखने लगते हैं। जो दूसरों का उपकार करता है, कल्याण करता है, उत्थान करता है, वह अदा एवं भक्ति का पात्र या केन्द्र स्वयं बन जाता है। इसी बात की महान् गत्यज श्रीमद् देवधन्द जी ने वही गुरुदर वश्वरों में हृदयस्पर्शी जैसे वापिक वापियों में १२ वें तीर्थिकर वासुपूज्य भगवान् के स्तुत्यन में कहा—

पूजना तो कीजे रे जिन सणी रे, जगु प्रगट्यो पूज्य इवभाष्य ।

परकृत पूजा रे जे इच्छे नहीं रे साधक कारण दाव ॥१०९॥११॥

इसी स्तुत्यन के अन्त में उन्होंने एक बहुर द्वी पुनर उक्ति कही है—

जितयर पूजा रे ते जिज पूजना रे, प्रगटे अन्यय वर्ति ।

दरमानंद विलासी श्रमुखवे रे, देवधन्द पद व्यक्ति ॥१००॥

अर्थात् भगवान् अपने को कोई पूज्य माने या पूजा करे यह कभी नहीं चाहते, उनका पूज्य भाव तो उनके विषिष्ट गुणों के कारण स्वयं प्रगट हो जाता है और लोगों के लिये सिद्धि का कारण बन जाता है। जिनेश्वर या गशापुरुष की पूजा वास्तव में अपनी आत्मा की ही पूजा है वयोऽकि उनसे

मृत्यु का अवसरा होना चाहिए, युग्म का विकास कर सबसे पूज्य बन जाती है। किन दुलों से वे पूज्य हों, उन युग्मों का प्रभटीकरण जब मन की शात्र में हो जाता है, वह अपने आग भगवान् वा पूज्य बन जाता है।

आचार्यश्री का महत्व :

दीर्घकरों की तो अपनी विशिष्टता होती ही है। उनके अभाव में आचार्यण चतुर्थ लंब का संचलन करते हैं, उनके योग एवं ज्ञेय का निर्वाह करते हैं, इसलिये अहंता और सिद्ध के बाद आचार्यों को नमस्कार किया जाता है। पञ्च परमेष्ठी में उनको लीनरा स्थान दिया गया है। सभी समय पर ऐसे नमर्श आचार्यों के द्वारा ही जैन संघ आगे बढ़ा और उन्हें बना। आचार्य, नंद के नेता होते हैं, वे युगानुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार संघ को लगा भोड़ देते हैं। पथ प्रदर्शन करते हैं। इसलिये 'गुह' पद वे महत्व का नामा नया है।

युगपुरुष जवाहर :

१६ वीं शताब्दी में लोकाशाह ने जो विचार-धारा रखी, उससे प्रभावित होकर कहाँ भारण आदि दीक्षित हुए। लोकाशाह के अनुवायी अनेक सगुवायों में विभक्त हो गये क्योंकि उनमें एक कुशल नेतृत्व का अभाव रहा। उनके अनुवायियों की ग्रनुस द्वासाराएँ थीं—(१) गुजराती लोंका (२) नागीरी लोंका (३) उत्तरार्द्ध गच्छ और (४) वीजाभती। इनमें से वीजाभतियों ने तो अनन्त स्वातंत्र्य विजय नच्छ चलाया और मूर्तिपूजा को स्वीकार किया। उत्तरार्द्ध गच्छ, कहाँ सरकारी दंजाव में प्रवर्तित हुआ। नागीरी लोंका गच्छ नागीर के हीरागर और लवजी रो प्रवर्तित हुआ और कहाँ भारण की परम्परा गुजराती लोंका मज्ज के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस परम्परा में १६ वीं शताब्दी में श्री वर्मसिंह जी, धर्मदास जी और लवजी की परम्परा दूँड़िया, स्थानकवासी २२ टोला गा साकुमार्गी के हाथ से प्रसिद्ध हुई। श्रावे चलकर उसी परम्परा में पूज्यश्री श्रीलाल जी हुए जिनके पहुँचर पूज्यश्री जवाहरलाल जी अपने समय के युगपुरुष प्रभावशाली आचार्य हुए, जो छोटे से गांव में और साधारण स्थिति के घर में संवत् १९३२ में जन्मे। उन्हें छोटी सी उमर में माता श्रीर पिता, किर आश्रयदाता माता का भी वियोग लहना पड़ा। सावुओं के संतान गे वैराग्य उत्तम हुया और १६ वर्ष की अवस्था में ही दीक्षित हो गये। घर में तो पढ़ाई विषेष नहीं हो सकी पर लगत और प्रतिभा थी, इसलिये श्रावे चल कर वे शास्त्रों के मर्मज विद्वान् और कुशल वक्ता बने। संस्कृत भाषा का ज्ञान

भावरस्त्रक समाज एवं साहित्य का अध्ययन करते हुए उन्होंने श्री वासीलालजी संस्कृत की अच्छी शिक्षा दिलवाई। इसी का परिणाम है कि श्री वासीलालजी ने आगमों की संस्कृत टीकाएँ रची। स्थानकवाती समाज में आगमों की सद्व्याप्ति पहले टीका उन्होंने ही बनाई एवं संस्कृत में कुछ काव्य भी रचे। पूज्य श्री जवाहरलाल जी की दूरदृशिता व कुशल नेतृत्व के कारण उनके समुदाय की काफी उन्नति हुई और आज भी हो रही है।

पूज्य श्री जवाहरलाल जी से बेता सम्पर्क अधिक नहीं हो सका पर जब वे लोकानेर एवं भीनारर में विराजते थे, तब दर्शन व व्याख्यान सुनने का कभी कभी सौता मिला था। उनका व्यक्तित्व आकर्षक और व्याख्यान प्रभावशाली होता था। वे स्वष्टि एवं निर्भीक वक्ता थे। युगानुकूल प्रवृत्तियों को उन्होंने पनपाया और आगे बढ़ाया, जब तक उनके सम्प्रदाय व समुदाय के गुरु उद्दत्तियों को वे अनुकूल नहीं गढ़ती थीं फिर भी उन्होंने अपने मन्त्रव्यों व विचारों को टड़ा के ताथ रखा और ज्ञाती पहनने आदि प्रवृत्तियों को तो स्वयं अपनाया एवं धावकों को अपनाने की प्रेरणा दी। लोकमान्य तिलक, एवं गांधीजी आदि उनके सम्पर्क में आये और गांधीजी के विचारों का तो उन पर काफी प्रभाव भी पड़ा। इसी से कई राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को अपनाने की, उन्होंने धावक समाज को भी प्रेरणा दी।

लोकानेर अनि पर तेरापंथी विचारशारा से उन्हें संवर्प करना पड़ा। श्ली में, जो तेरापंथी सम्प्रदाय का गढ़ माना जाता था, वहां भी उन्होंने विहार करके सरदारशहर, चूह आदि में अल्ला प्रभाव डाला। तेरापंथी विचार धारा के लगड़न में उन्होंने 'अनुकूल' विचार और 'सद्गम संठन' जैसे ग्रन्थों थीं रचना की।

आपके अनुकूलनों का संग्रह करने का जो प्रयत्न किया गया, वह बहुत ही लाभदायक बना। उन्होंने के आधार से 'जवाहर किरणावली' के ३५ भाग अकाशित हुए। श्री चम्पालाल जी वांठिया उनके विशेष भक्त शब्दों में से है, जिनके प्रयत्न से उनकी विस्तृत जीवनी संवत् २००४ में प्रकाशित हुई और उनके विचारों का संकलन 'जवाहर विचारसार' के नाम से प्रकाशित किया गया। इन दोनों ग्रन्थों एवं जवाहर किरणावली आदि से आपके जीवन चरित्र, विचार, उपदेश, व्याख्यान शैली आदि का भली भाँति परिचय मिल जाता है। श्रदेह प्रान्तों में घूम कर उन्होंने अच्छा धर्म प्रचार किया।

आपके व्याख्यान-संग्रह के कई ग्रन्थ गुजराती में भी लिए हैं।

उपाध्यानों के संग्रह एवं प्रकाशन से उनकी वाणी का लाभ आज भी मिल रहा है एवं आगे भी मिलता रहेगा ।

जिन दिनों आप बीकानेर एवं भीनासर में विराज रहे थे, उन दिनों फलोदी के विशिष्ट श्रावक फूलचन्द जी भावक जब बीकानेर पथारते थे तो पूज्यश्री जवाहरलाल जी से मिलने या व्यास्पान सुनने कभी-कभी जाया करते थे । थे कट्टर मूलिक और गृहितपूजक रमाज के मुखिया थे, किर भी वे यड़े गुणग्राही थे, इसलिए पूज्यश्री जवाहरलाल जी की प्रसंगा किया करते थे । फूलचन्द जी से हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध था, इसलिए पूज्यश्री जवाहरलाल जी के गुणों की चर्चा से मैं भी प्रभावित हुआ ।

यास्तव में श्री जवाहरलाल जी अपने समय के विजेता: स्वातंकवासी समाज के तो उत्सेखनीय प्रभावशाली संत एवं आचार्य थे । संवद २०३२ में उनकी जन्म शताब्दी मनाई जा रही है । यह एक युगपुरुष व प्रभावशाली आचार्य की स्मृति है में अवश्य ही राधुमार्गी लंघ की कर्तव्य के प्रति जागरूकता की ओतक है । उनकी विचार धारा के कुछ नमूने 'अमणोपासक', में नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे हैं । कई जैन धर्मानकों पर भी उन्होंने छूट विलृत रूप में प्रकाश दाला है । शताब्दी के प्रसंग से मैं प्रस्तुत लेख हमारा अपनी अदानति ग्रन्ति करते हुए हृपं का अनुभव कर रहा हूँ ।

४४४

जैसे दीपक के प्रकाश के सामने अन्धकार नहीं रह सकता, उसी प्रकार जील के प्रकाश के सामने पाप का अन्धकार नहीं ठहर सकता । भगवान को मिटाने और जील के प्रकाश को कंलाने के लिए दृढ़ता, धैर्य और पुरुषार्थ की ग्रेडेश्या रहती है ।

(पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज)

म० नहांदीर निर्बाण महोत्सव के उपलब्ध में
प्रकाशित एक संग्रहणीय पुस्तक-

० प्रतिमा विज्ञान ०

■ अगरचन्द नाहरा

भारतीय कला में जैन कला का विशिष्ट स्थान है पर भी तक उसका भी अनिमुखी रूप नहीं हो। यहां जैन मूर्तिकला पर बहुत बड़ा वर्णन हो। उगाली शाह ने शोध प्रबन्ध लिखा पर यह भी तक प्रकाशित नहीं हुआ बचता है। शाह का अध्ययन इतने वर्षों में बहुत अचूत असू रहा है। नित्य-विरक्त भई भई आनकारों और सामर्थी प्रकाश में भी रही हैं। शाह के शंकाम्बर मूर्ति और चित्रकला पर अनेकों लेख ये ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। इसी तरह डॉ. मोक्षीयदेवी ने जैन चित्रकला पर जैनियों में शब्द ये लिखे हैं इन शोर्तों विद्वानों के जैन कला संबंधी पंथों का हिन्दी अनुवाद हीता आहिए डॉ. शाह भी जैन आठ पुस्तकों का अनुवाद शब्दार्थ कस्तूरमलकी बालिया ने प्रेसे प्रेटणा से किया था, मैंने उसे प्रकाशनार्थ डॉ. दलचुष नालंघणिया ने भेजा और उद्घोटन हो। छोटों अधित अरिदिति करने हो भेजा पर बहु आठ दश मुहूर नहीं मिला। मैंने शीता दा दि जैन संस्कृति संशोधक मठसे येरिजी ग्रंथ निकला है उसके श्लोक बहु है ही बहु उसी अनुवाद तेह राम में विकल आयेगा पर दों। शाह ये आवश्यक सहयोग नहीं मिलने से यह कार्य नहीं हो यता।

भी रामगाई नवाब ने इन लक्षण तरंगों द्वारा से ये प्रकाशित किये हैं, पर व्यवसायिक दृष्टिकोण हीन से मूल्य अधिक रखा जाय जतः ये कला नहीं आवश्यकता जानकारी सांख्यिक व्यवितरणों की ही मिल रायी। अभी सातुर्जी के प्रयत्न से ऐसे आठ आरटीटेक्टर' नामक महत्वपूर्ण ग्रंथ भारतीय जगतप्रीठ से द भागों में प्रकाशित होने जा रहा है और पहला भाग प्रकाशित भी हो चुका है। डॉ. दानुष्येश भरम भगवान्न ने भद्रा के जैन रस। पर निवेदि लिखा उच्चे में प्रकाशित कर चुका है। परिवर्त भगवान्नामनी जैन में 'यास्तुनार' नामक जैन मूर्ति विज्ञान आठ विषय स्थापित नक्शों द्वाकृत पर जो सातुर्थाद कल्पी नर्त वहां प्रकाशित मिला था। योतिष्ठ आठ नित्य जैन ये शब्दानुद्देश विज्ञान हैं। यह अन्य विद्वानों ने भी ये जैन कला के लिए अनु भवन का काम किया है। उन सबकी चर्चा यही जैन तंत्र नहीं पर अभी प्रतिमा-विज्ञान संबंधी एक जगा ग्रंथ मुक्ति मिला है उसी का परिचय जैन द्वनाथ को करवाने के लिए यह लेख लिखा जा रहा है।

जैन दालिय लो तरह जैन कला भी ऐसा है जिसके लिए अपने बहु भाई स्थगिय अभवान्न नामक द्वारा स्मृति में अभय जैन चैतालय में हस्तलिखित और मृदित ग्रंथों पा वडा संग्रह किया है। उसी तरह अपने पूज्य विराजी दाकरक्षानकी नाहदा की स्मृति में अपने श्रेष्ठलम के ऊपर कला भवन भी स्थापित किया है उसमें जैन कला की भी बहुत महत्वपूर्ण एवं चहों लामग्री इकट्ठी की है जैन चित्रकला नूतकला पर बहुत से लेख भी प्रकाशित किये हैं। जैन प्रतिमा विज्ञान संबंधी छुल गंयों के उद्घरण सहित दो तीन लेख मेरे असेक्यात में उप चुके हैं।

उपनींगालक पुरातत्व और संग्रहालय, मध्यप्रदेश भी यास्तुन जैन एम.ए. साहित्य शास्त्र का कई ग्रंथ पहले मुझे जागरी प्रभारिणी नगा के भारत कला भवन में भारतीय कला के मर्मज विद्वान

राम कृष्णदासजी ने परिचय करवाया था और उन्होंने कहीं उपर्युक्त स्थान में नियुक्त कराने का काहा
या मैंने उन्हें नीमनेर पश्चात्ते का भी कहा था पर संघर्ष नहीं पिछा जब उनकी रायपुर मुनियग
ने नियुक्त हुई मुझे बड़ी खुशी हुई अभी उनकी प्रतिना विज्ञान पुस्तक प्रकाशित होने की सूचना
मिली तो बड़ी खुशी हुई। प्रकाशक से प्रति मंगाकर यह लेख प्रकाशित हुर रहा है।

प्रारम्भिक निवेदन में प्रतिमा विज्ञान के लेखक बालचंद जैन ने लिखा है—

यह वर्ष १९७३ में मेरे अनेक मित्रों और लेहोंजनों ने मुझे पुनः प्रेरित किया और भगवान्
महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलब्ध में पुस्तक प्रकाशित किये जाने का आपहं भी
किया। उन्होंने हितेष्ठीजनों के सतत प्रदत्त उत्साह और प्रेरणा के फलस्वरूप जैन प्रतिमा विज्ञान
विदेश पुस्तक इस स्पष्ट में प्रस्तुत है। इसमें दिग्धार दोनों परंपराओं के ग्रंथों के आधार पर ऐवा-
विदेव जिन और विभिन्न प्रकार के देवों की प्रतिमाओं के संबंध में विचार किया गया है।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में जैन प्रतिमा विज्ञान के आधारभूत ग्रंथों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय
में प्रतिना चटन द्रव्य तथा पूज्य, अपूज्य और भान प्रतिमाओं के संबंध में परंपरागत विचार प्रका-
शित किये गये हैं। तृतीय अध्याय में तात्त्वान की चर्चा है। चौथे अध्याय में धेशठ शलाका और
श्वेतांदर पुरुषों का विवरण देते हुए चतुर्थित तीर्थंकरों से संबंधित जानकारी प्रस्तुत की गई है।
तत्पश्चात् भवतपासी अन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवों और विशेष हुर उनके इन्द्रों के स्वरूप
का वर्णन हो।

सोलह विद्या देवियों और आसन देवताओं को जैन देववाद में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।
उनके लक्षण छठे और सातवें अध्यायों में वर्णित हैं। आठवें, नौवें, दसवें और न्यारहवें अध्यायों में
कामः जैन मान्यतानुसार क्षेत्रपात्र अष्ट गात्रकाओं द्वात् दिक्गणाओं और सवप्रहों की चर्चा है। यत्पि
कुछ के जैन तंत्रों में जीवठ योगिनियों, चोरासी सिंहों और वावन वीरों के नामोल्लेख उपलब्ध है
पर उन्हें इस पुस्तक में चम्पिलित नहीं किया जा सका। प्रतीक पूजा के उपकरण, विभिन्न रंगों और
नांडनों द्वारा भौगोलिक नक्काओं आदि को इस दृष्टि से छोड़ दिया गया है। क्योंकि जैनों को प्रतीक
पूजा एक स्वतंत्र ग्रंथ का विषय बनने योग्य है।

इससे पुस्तक का संक्षिप्त विवरण मिल जाता है। ग्रंथ के अंत में १६ विद्या देवियों और २४
शासक यक्ष और यक्षिणियों के रेखाचित्र देमे से ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ मर्द है मूल ग्रंथ २२४
पृष्ठ का है परिचयित १ में विद्या देवियों और यक्षिणियों के नाम वर्णन वाल्य भुजाओं को संख्या और
अस्युध तथा मूल की शूचि दी है, परिचयित २ में जैन प्रतिना लक्षण के पूल एसोक ग्रन्थ १०३ ने ५००
तक में दिये हैं। किर राजाओं भौगोलिक लेसों वालायों ग्रंथों के नाम आकारादिकन से दे दिये गये
ग्रंथ यहूत निश्चय से लिखा गया है और संग्रहणीय है। प्रकाशक मदनमोहन जैन स्टोर हाईट टाउन
जयलपुर-२ (ग्रन्थ १५) है। इनके द्वारे भाग को भी धालचंद जैन जीव्र संसार कर्म प्रकाशित
कराव घातु-व्रतिमाओं पर भी प्रकाश ढाता जाना आवश्यक है। निर्वाण शताव्दी के प्रकाशनों में
ग्रंथ ग्रंथ भी उपयोगी और उल्लेखनीय है।

ओ धालचंद जैन अपने विषय के अन्धे विद्वान हैं जैन समाज में पुरातत्व मूर्तिकला के विद्वान
बहुत ही कन हैं। इसलिए उनका आदर करते हुए सम्मानित करना चाहिए, और उनसे पूरा लाभ
तेजा चाहिए।



१३ दृ९५

कृष्ण

पासणाह चरित

पूर्व कथा—

पासणाह चरित अपब्रंश भाषा की कृति है जिसकी रचना हरियाणा के प्रसिद्ध कवि श्रीधर द्वारा ११३८ में पूर्ण की गई। पूर्व कित्तों में तोथेकरों की मंगलस्तुति, पाइवनाथ का जन्म, अभिपेक, यज्ञन नरेश से युद्ध, दिगम्बरी दीक्षा लेने, असुराधिपति के धोर उपसर्ग, इन्द्र के वज्र प्रहार, पाश्वं प्रभु की महिमा, पाश्वं प्रभु के मुख से घर्मोपदेश सुन कर कमठासुर का प्रहार छोड़ कर परच्छाताप करते हुए प्रभु के चरणों में नवमस्तक हो जाने का उल्लेख है।

प्रस्तुत कित्त में पाश्वनाथ का कुशभ्यल नगर के उद्यान में जाना, रविकीर्ति नरेश का उन से जाकर धर्म का भेद पूछना, वाश्वनाथ का अहंतदेव गुद और आत्मधर्म में अद्वा करने का, हिंसा भाव छोड़ कर अति अनुरागमुर्वक दयासहित धर्म करने का, मधु मध्य और मांस छोड़ने, सात व्यसनों को छोड़ने, परस्ती, धन-धान्य लोभ का परित्याग करने का उपदेश देना, अणुद्रतों और गुणद्रतों की व्याख्या, जिनेन्द्र की लुती, सूर्यास्त के बाद भोजन न करने का उपदेश, रविकीर्ति द्वारा वारह व्रतों का धारण किया जाना, रविकीर्ति की पुनरी प्रमावती का दीक्षा लेना, पाश्वनाथ का शोरीपुर पधारना, प्रभंजन नरेश द्वारा पाश्वनाथ की स्तुति, पाश्वनाथ द्वारा जीव भेद-स्थावर-जंगम, भव्य-अभव्य का उल्लेख, चौरासी लाख जीवन्योनियों का वर्णन, मोह छोड़ कर धर्म करने का उपदेश, चार वर्गों का वर्णन, धर्म करने की विधि, मानव जीवन की दुलंभता, जिननाथ के धर्म की शतपत्र कुमुद से तथा अन्य धर्मों की कमल से तुलना, प्रभंजन नरेश का दीक्षा प्रहण करने का सजीव चित्रण है।

इसका सम्पादन थी यगरचन्द नाहटा द्वारा तथा टीका श्री दीपचन्द पंडिया द्वारा की गई है।

दस्य रपं विजोक्याऽऽशु जगाम नुहदा द्रजः ।

(हर्ष) केकाय जीभूतं स जीयाभृत्तुल विचरम् ॥

जग सुहयर सरस्वयर इदारोभिणि पोमायरु ।

परमेश्वर जयगेगरु खवल भविय योमायरु ॥

हयसेन सरीरउ रय विहीणु । पथ-पक्य-गविय-महा-महीणु ॥

बज्जिय थहिरल्लंतर पसेगु । बड्डीमाइतिसय तिरी पसेगु ॥

दुत्तर संसार समुद्र लेड । तियसिद लिद सय विहिय लेड ॥

तेवीसमू त्रिगुयरु (चह) हदेड । तित्यवद वित्यरिय जमू पिदेड ॥

लोयहां श्रव्यासिय तिजय भेड । दुष्ठार मारवाणाहि ग्रभेड ॥

चठचिहकसाथ विसि वहणतेड । णव त्तरणि किरण संकात तेड ॥

विज्ञाहूर विज्ञिय चामरोहु । विणिवारिय अमुहल्लण विरोहु ॥

परिहरिय सवरियण लत्त्विमोहु । केवलकिरणावलि हृष तमोहु ॥

विहरंतड धरणीयलि विकात्ते । सरि सरवर त्तारए रारसाले ॥

मेलंतड पुर णयरायराइ । ग्रणवरड णरेसरमायराइ ॥

जनता को नुखकारी, काम को रोकने वाले, दशा रूपों कमिलनी के ग्राधान सरोवर रूप परमेश्वर विश्व के प्रकाशक सूरज रूप सकल भव्य जीवों के पदमाकर हयसेन के पुत्र रस (पाप) रहित, जिनके चरण कमलोंमें भद्रान धरेणम्ब नतमस्तक हुआ है, ये चाह्य और अंतरंग परियहाँ से वीजित, चाँतोंस यतिशयों की शोभा रूपी लक्ष्मी से युक्त, दुर्लभ संसार सागर के सेनु, यत इन्द्रों से सेवित, सेईसवें जिनेन्द्र श्रहंत देव तीर्यं करने वाले, भद्रान यशस्वी गुदेव (पुरुषोत्तम) भव्य जीवों को तीन लोकों का रहस्य बतलाने वाले, काम वाणों से अमेश, चार कपाय रूपी सर्पों के नाशक गहड़ रूप, वाल सूरज की किरणों के सभान तेजस्यो विद्याधरों द्वारा जिन पर चामर समूह दुरे हैं, जिन्होंने असुखति भेदमाली के वैर को निवार दिया है और परिजन तथा लक्ष्मी से भोह त्याग दिया है, जो केवल ज्ञान रूपी किरणों से श्रसान तिभिर को नष्ट कर चुके हैं, ये प्रभु जो पृथ्वी तल, जो नदी और तरोवरों के तीर पर मारसों से शोमित है, ऐसे विशाल धरणों तल पर विहार करते हुए राज लक्ष्मी से परिपूर्ण अनेक पुरों-न्नगरों को कमज़ा: छोड़ते हुए वे प्रभु, निदारहित, परहित करने वाले भगवान्

सावरहित, णियपरहित पतु कुसत्यल णंदणे ।
पिय तहेहि, यह भहेहि, मयरद्वय सिरिणंदणे ॥ १ ॥

जय जय तिहुवण सामिय रवेण । चउचिह सुर विरह्य उच्छवेण ॥
देवागम् जाणेवि जिणवरासु । णिम्मल केवल कामिण वरासु ॥
विष्णुतउ वणवाले तुरल्तु । रविकिति णराहित विष्फुरतु ॥
णिव पुण्णु करेहि सया पसण्णु । सिहासण सिहरोदरि णिसण्णु ॥
सुणु सावहाणु मणु करिवि देव । जमु पय जुइ णिवडहि खयर देव ॥
महयले दुदुहि बजजइ रधालु । छत तउ जमु उपरि विसालु ॥
जसु दिव्य भास तिहुघण पथास । जसु भामंडल सिरि भासियाऽस ॥
जसु सिहासणु (सिय) किरण भासु । जसु पुण्फ विट्ठि णिवडइ णहासु ॥
जसु उवरि तहइ कंकेल्ल रुखु । जसु चमराणिलु अबहरइ दुखु ॥
सो पासणाहु जिणु णंदणंते । तुह तणए अज्जुणहयर रणंते ॥

पाश्वनाथ अतिशयभद्र कोकिलाद्यों की ध्वनि से काम की शोभा को बढ़ाने वाले ऐसे कुशस्थल नगर के उद्यान में पधारे । है विभुवन के स्वामी आपकी जय हो—इन शब्दों से और चतुषिध देवों द्वारा किये गये उत्सव के द्वारा तिर्मल केवल ज्ञान ज्योति रूपी कामिनी के वर रूप श्रीजित वर का देवागम (लमवशरण) आया जानकर के बनपाल ने राजा को सूचित किया और कहा, “हे राजेन्द्र ! आप सिहासन को सुशोभित करने वाले राजेन्द्र आप प्रसन्न होइये और मन को सावधान करके सुनिये —जिनके चरण-युगल में खेचर और देव मुकते हैं । आकाश में दुदुभि जोर-जोर से शब्द करती हुए बजती है, जिन पर तीन विशाल छत हैं, तीन भुवन को प्रकाशित करने वाली जिन की दिव्य ध्वनि है, जिनकी दिशाद्यों को भाषित करने वाले भवमंडल की शोभा है, जिनके सूरज की किरणों के समान चमकता हुया सिहासन है, जिन पर आकाश से पुण्फ वृष्टि होती है, जिन पर अशोक वृक्ष शोभित हैं, जिनके चामरों की पवन दुखों को दूर करती है, ऐसे पाश्वनाथ जिन पक्षियों से चहचहाते हुए आपके उद्यान में आज पधारे हैं ।

संपत्तउ तम चतउ जो तेल्लोउ णियच्छइ ।
जसु भत्तउ अणुरतउ जणु नहु आणु पडिच्छइ ॥ २॥

रविकीति राउ तहो सुणेवि वत्त । सिहासणु मेलिलवि पयइ सत्त ॥
जाएवि जोडेवि करयलहं बेवि । पणविउ भालयलु परिठबेवि ॥

बम्मादेविहे गव्भुव्भवासु । णिजिय पंचत्त जराभवासु ॥
उट्ठेविणु पुणु साहण समेड । मउ तहिं जहिं णिवसइ देवदेउ ॥
गय झत्ति पहावड जणणियाए । सहुं समवसरणि मुह जण णियाए ॥
णर णाहे पणवेवि युह करेवि । तमु हरेवि सकोट्ठइ वहसरेवि ॥
जिणु पुच्छउ सावय धम्म भेड । तं सुणिवि भणइ तित्थयह देउ ॥
सुणि भणभि गिहत्थ हो तणउ घम्मु । पविष्टण सग अथ वग सम्मु ॥
संकाऽङ्गइ सयल दोसहं मुएवि । मिच्छत्त भाउ तह परिहरेवि ।
सम्मत्त रयण भूसणु धरेवि । समियर समु तिथरणु यिस्करेवि ॥

वे प्रभु अज्ञान तिमिर से दूर हैं और तीन लोक के जाता-द्रष्टा हैं। भक्त और गुणानुरागी लोग उनको आज्ञा को सिर पर धारण करते हैं।

रविकीति राजा ने उसकी विनती सुनकर सिहासन को छोड़ दिया और सात कदम चल कर दोनों हाथ जोड़ कर खड़े होकर, जो ब्रह्मादेवी के पुत्र हैं, मृत्यु, जरा और जन्म को जीत चुके हैं, उन प्रभु को अपना मस्तक झुकाया और फिर अपने साधन समेत जहां देव देव विराजमान थे, वहां गया तथा प्रभावती सुख की जननी अपनी जननी के साथ समवशरण में गई। नरनाथ ने प्रणाम किया, त्वुति की ओर अपना अज्ञान मिटाया। तत्पश्चात् वह मनुष्यों के बीच बैठ गया और जिनेन्द्र से श्रावक धर्म का भेद पूछा। राजा का प्रश्न सुनकर तीर्यकर देव कहने लगे, “सुनो, मैं स्वर्ग मोक्ष के सुख को देने वाले गृहस्थ के धर्म को कहता हूँ। शंका आदि सकल दोषों को छोड़ करके तथा मिथ्या भाव को त्याग करके सम्यकत्व रत्न के भूषण को धारण करके, चन्द्र किरण समान निम्नल अपने तीन करणों को स्थिर करके, जो

णिददसणु सर दूसणु मण करिदु संदाणद ।

णिरवेकबउ जयलबाबउ जो सथरायह जाणइ ॥३॥

केवल लच्छो परिरंभियासु । तिगुणिय छट्रोस विवजियासु ॥

मरहंत हो तहो पय पंकयाइ । पण यिज्जहि णिरुणिपंकयाइ ॥

जह जाय लिग लच्छीहरासु । थिर भावणिहय धरणी हरासु ॥

तिककाल पवंदिय लिणवरासु । परिहरिय परिमाह मुणि बरासु ॥

आएसु पड़िचिट्ठजजइ जवेण । गुण रवण धुणिजइ कल रवेण ॥

विरइजजइ रइ गयहिस धम्मे । णिरु कत्तिय चिरकम असुह कम्मे ॥

णिगांथहो परणिट्ठाणु होइ । एरिसु वज्जरइ जिणिंदु जोइ ॥

एरिसउ होइ लक्षणु णिरुत्तु । सम्मत हो जिणवइणा पउत्तु ॥

सम्मत पहाडे सुख्यणाहे । संदोहे णिर्भलयर पणाहे ॥

पुजिजजइ यरु तिहुग्रणे निमोद्धृतु । पुणु जाइ संजरिय परमसोक्खु ॥

निर्दोष हैं, काम के नाशक हैं, मन रूपी हाथी को धरा में किए हुए हैं, निरोक्ष हैं, जिन्होंने जगत को देखा है और जिन्होंने चराचर को जाना है।

केवल ज्ञान लक्ष्मी से आलिगित अठारह दोषों से रहित उस अहेत के निष्पंक चरण कमलों को प्रणाम कीजिए। यथाजातलिंग की लक्ष्मी के धारक, स्थिरता के द्वारा पवंत को भी जीतने वाले, द्विकालं जिन वदन करने वाले, ऐसे परिग्रह रहित, मुनिवर के आदेश को स्वीकार कीजिये तथा उनके गुणरत्नों की मधुर शब्दों से स्तुति कीजिये और पूर्वकृत अशुभ कर्मों के नाशक ऐसे आत्मधर्म में रति कीजिये अर्थात् अहंतदेव मुरु और आत्म धर्म में अद्वा करना-ऐसे दर्शन के लक्षण जिनपति ने कहे हैं। सम्यकत्व के प्रकाश से लिभुक्तन में यह जीव निर्भलतर मन वाले देवजनों के समूह से पूजा जाता है और अंत में जहां परम सुख है ऐसे मोक्ष को भी पा लेता है।

गुण जृत हो भग्नत हो विपरीत मित्रता ।

भवतायरे अनुहावरे पादिजज्ञ अपवत्त ॥५॥

एउ मुणेवि जिनागम परम धर्म । कुर महियहिनि र यहि असुह कन्म ॥

दय मूलु जानु पदणिय मुहानु । णिम्मन् म्मकित भव दुहानु ॥

दयसहित (मव्य) थोड़ो विद्यन्म । जाव बद्द तासु चरमहलू जम्म ॥

उहिनिवि देउ जइ जीव धाउ । किजज्ञ तहावि संबद्ध पाउ ॥

कि विम पीसिउ गृहु गिलिउ वर्ष । णिहण्डण पाण परपि वियण ॥

एउ मुणेयि विउज्जिव हिसभाउ । वृह चद्द धर्म अह तामुराउ ॥

करणए विणु णियमुवि मूलु जाह । यहि विष्णु मूलेण महीउ यहि ॥

समसत् पठमु यणे विह करेवि । मुणियाह वयमविह चण्टारेवि ॥

विजयह दूरि मह भञ्जु भंतु । गिरधाण सोख्ज संपत्ति भंगु ॥

तह भक्षणु पंचवारि फलाहु । वहु जीव जोणि अह संकुशाहु ॥

गुणपुत सम्बन्ध दर्शन से विपरीत मित्राभाव के प्रभाव से दुखों की खाल मदसागर में डूबाता है। इस प्रभाव जिनागम के परम धर्म को मुनाफ़र, हे भहिष्ठति, तू असुह धर्मों को छोड़ दे।

हे राजेन्द्र ! संसार वृक्ष रो जड़ से उत्ताढ़ने याने और सुख को देने वाले उस (धर्म) का मूल दया है जो भव्यजीव द्वा लहित थोड़ा सा भी धर्म का पालन करता है, उसी का जन्म सफल है। देव के उद्देश्य से यदि जीवघात किया जाता है तो भी पाप समता है। “हे भव्य ! विष मिश्रित गुड़ खाया गया तो क्या वह प्राणों को नहीं ले लेगा ?” ऐसा लुन कर हिमाभाव छोड़ फर आति अनुरागपूर्वक दया सहित धर्म को कर। करणा के विना वृक्ष स्तिर रह सकता है? सर्वप्रथम मन में वृक्ष सम्बन्ध धारण कर और तीर्थकरण के वचन की विधि का अनुसरण करके देवगति के सुख संपत्ति के नाथक मधु, मट, और मांत इन तीन मस्कार को दूर से ही छोड़ तथा बहुत जीव योनि से अनिव्याप्त पंच उद्दूवर पत्तों का भक्षण करना छोड़।

कथ तावदं बहु पापदं श्रवणदं सत्त्वि उपज्ञाह ।

घर वास हो चम पास हो मा नोहेण विमुच्याहि ॥६॥

नहुं सायहि भुविष्य कंदरादि । तह धर कुमुखदं रिज कंठ पासि ॥
 द्विदिट्ठि मुट्ठि लंधाणु वाणु । विरएविष्य मार्यहि जीव जाणु ॥
 वेइदिवाइ परिहर्यहि तेम । संभवइ पाउ ए मणावि जेम ॥
 ए वोलियहि सुहंकह लेमनन्तु । दूसियहि जिगहो णड जेम उन्तु ॥
 परदल्यु णिरकिलवि णिय गणेण । चितिज्जइ तिणु जह भर्दियगेण ॥
 पर तिय पेयखेवि परमत्यु जाण । मेल्लंति पाय वहिणी समाण ॥
 परिमाणउ धण कण कंपमाहू । धर दास दासि वसणावगाहू ॥
 विरयहि संकोडेवि सोहू भाउ । भवियण पयडहिपिम्मल सहाउ ॥
 एथहि पंचाप्युच्यदं जेम । णिलुपिगजहि णिव गुणवयहि तेम ॥
 दिस देसागत्यहि विरहभव्व । विररंति समगि परिहर्य गव्व ॥

तापकारक बहुत पाप रूपी सात असरों को भी छोड़ प्रोटयम के पाजल्प पर-वास के मोह से गाफिल मत बन ।

स्वाद के साथ कन्द राशि को तथा वृक्षों के फूलों को मत खायो । थृढ़ दृष्टि, मुट्ठी प्रोट निजाना तथा वाण लेकर जीवों को जान दूझ कर मत मारो । वी इंद्रियां ग्रादि जीवों को भी मत सताएं जिस से कि स्वल्प पाप भी न लगे । ऐसे शुभ सल्ल वचन दोलिये जिससे जिनेन्द्र का तत्त्व दूषित न होये । अपने मन से पराए द्रव्य को देख कर भव्यअसों को सूर के समान विचारना चाहिये । पराई स्त्री को देखकर उसे माता, वहिन, पुत्री के समान समझ कर त्याग करना ही परमार्थ है । धन, धान्य, सोना, धर, दास, दासी, वस्त्र प्रोट ग्रादि का परित्याग कीजिये । हे भव्य जन ! लोभ के भाव को संकुचित कर के निर्षल स्वभाव को प्रकट कीजिये । ये पांच धणुत्रताहें । अब हे नृप ! गुणवतोंको सुनिये । जो मव्यजीव है, वे गवें छोड़ कर दिग्विरति, देशविरति और प्रनर्थ दण्डविरति को करते हैं ।

सुह नोवहं उवनोवहं, विजजइ संव परेवर ।
एवहि पृणु णिह्यउ भुणु शिक्षावय कुलगेसर ॥ ६॥

सब्बहो खमामि अनुहर गणानु, नज्जुधि खमंतु णिम्मल मणानु ।
एउ मणेधि मुएवि कम्मद जिणामु, युह विरद्जजइ जियसर मणानु ॥
एकहि दिखे चुडे तियरणेण, पिह तिण्ण वार रंजिष मणेण ॥
अट्ठमि चउदसि फिवसुह णिवामु, विजजइ उववानु भहाणिवासु ॥
जाएवि जिण मंदिरे जिपवराइ, पुज्जेविनु पणविष पुष्पवराइ ॥
दज्जन्धि तंकाइ अम्भे, दोन, अवरइ विभाव गंजणिए सोन ॥
घर वार पलवत्तहो णरेण, ग्राहार दाणु दिज्जइ भरेण ॥
अत्थमिए दिववरे किति कंद, विरद्जजइभोपणु एउ जरिद ॥
विणिवारहि दिणि मुहण हो कुम्मु, अणवरउ रह्य जर मरण जन्मु ॥
अवसाणे विदज्जन्धि तल्ल नंगु, फल्लेहण विजजइ चुह पसंगु ॥

हे नरेश्वर ! शुभ भोगों आर उदभोगों का परिमाण कीजिये । हे कुल सूरज !
अब स्थान लना कर जिलावतों को गुने ।

मैं सब जीवों को अमा करता हूँ । निर्भलचित्त होकर सब जीव मुझे भी अमा करे । इस प्रकार कह कर सब वर्मों को छोड़ कर काम धाण को जीतने वाले जिनेन्द्र की सुति करना । ऐसा एक दिन में शुद्ध त्रिकरण से अनुरागपूर्वक मन से तीन वार करना सामायिक है । हे महान्‌ग ! प्रतिमास जिन मंदिर जाकर जिनेन्द्र की पूजा करके मुनोखरों को प्रणाम पर्ने जना प्रादि समस्त दोषों को तथा श्रीरम्भी मिथ्या के जनक कुमावों को छोड़ कर अण्टमी, चतुर्दशी के दिन शिव नुष का उपवास करना प्रोपधोपवास कहलाता है । वर के द्वार पर आये चुपान को भक्ति-पूर्वक आहारदान दीजिये । हे कीर्तिकंद नरेव ! सूरज के अस्त हो जाने पर भोजन न कीजिये । जरा, भरण, जन्म को करने वाले दिन में मधुत कर्म त्यागिये । मृत्युकाल आने पर अंत में सब संग और परिहर का त्याग कर शुभ प्रसंग होकर संन्यास लीजिए ।

आराहण मिथमुहमाहण, चट्ठविह आराहिज्जन ।

जिय चिते मुपत्विने पाण चाउ पुण विक्रम ॥ ७॥

इय जिमुमेविनु माथय बधाइ । पथमिय चातम सिय संपदाइ ॥
 रविकीर्ति गरिदण्डविविंश्ट । समस्तु लइड जिय मयरक्षेउ ॥
 पठियगइ वारह रिह बधाइ । विणिवारिय संनारा बधाइ ॥
 दाहि अथवरि चंद पहावर्द्ध । रविकीर्ति लगूद्धं पहावर्द्ध ॥
 पगोरेप्पिण्यु पथ परमेनरामु । पोगिय संगार चरोवरामु ॥
 संठिय धिर मण तंगहि विदिवय । यज्जिय तमोवे परिमुण्डि तिक्ष्ण ॥
 पालंति सप्तम जिम्मल बधाइ । द्वयगेविसत्तविमण मन भधाइ ॥
 जिय मयनसेणु हमसण पुसु । विहरंठ चट्ठविह संघ जुतु ॥
 घड विह विसाल पथ पाहचतु । सउरी पुर वरे जिगणाहु गतु ॥
 तहि चन्दपहुजणु पुहवियालु । ग्रविवर गिलत्तुकुर्ये रिठ भधालु ॥

शिय मुख को साधने बाती चार प्रभार को आराधना की शादन कीजिये और अपने पवित्र चित्र से ग्राने प्राण त्याग कीजिये ।

इस प्रकार जाएवत शिय सम्पदा को करने वाले आधक के व्रतों को मुनक्कर रविकीर्ति नरेन्द्र ने काम विजयी उत्तरेव की प्रणाम करके सम्बद्धशंसन संगोष्ठी विद्या लवा संसार की आपदाओं को निवारने वाले यारहु प्रकार के ग्रन्त धारण किये । उसी समय घन्दमा समान प्रभावाली रविकीर्ति नरेन्द्र की पुत्री प्रभावती ने संसार रूपी सरोवर को सुखादेने वाले परमेश्वर के चरणों को प्रणाम करके ज्ञानिका के समीप स्थिर मन से दीक्षा लेकर शिद्धा जिम्मद का अध्ययन करती हुई समस्त तिमंत व्रतों को पालती हुई मन से सात भयों को दूर करके रहने लगी । मदन यी सभा को जोतने वाले, चार पाति कमों से रहत थी हयसेन के पुत्र (पाश्वं) जिननाथ चतुर्विध संघ समेत विहार करते हुए वहां से शोरी पुर पधारे । यहां उस समय प्रभंजन नरेन्द्र राज्य करता था ।

जय वक्षण हो हय मदपहो द्रुद्धामनु जाणेविण् ।

स्तु जिमाड्यं शिव्यद हरिस लक्ष्मि भाणेविण् ॥६॥

वामत मंति परिपरित जनु । गोमाहू किंत आभिन्नहे जनु ॥

तंपत्तु पहेजशु गिवह तेषु । गिवहसु विषु पानु समर्थु नेषु ॥

पणवेविण् शुद्ध पारद्व जाम । चड देव णिकाय सुर्णति लाम ॥

जय जय परदेवत यीवहाव । भाविय एवत्व वरद्व वरद्व ॥

जय भुवण भवण उद्धला वृंग । परहीन्य णिहिल आर्ण दंग ।

जय मुवण भगिरथण भमर लंव । जय तिज्य णाट्ट नष्ट मिधणि सुंग ॥

जय भीम भवत्वहि तरण वोव । पिरनिव लंताश्पर्ति लंवि ॥

जय महभिन्नत समर्थु भर । शविभय दग्धिय भवियास दूर ॥

जय देव दिव्य इनुहि र्खाव । सइ उप्पाडिय मिर कुटिल वाल ॥

जय भमर भग्य भास्त्र भवीय । भर तिव्य दुविर लव लाव शीय ।

वह लोतों के कहने वे काव नाशक अद्वेत तो आगमन जागार हरि लक्ष्मी का आलिङ्गन करके, दिम्जा की झोति शीव्र हो नार से निकला ।

चत्वार तमान रमणीय कीर्ति कामिनी का वति प्रभेजन नरेव सामंतों और मंत्रियोंसहित चलते-चलते, जहाँ पश्च प्रभु क्षमवकरण यहित विद्यमते थे, वहाँ आया और प्रभु की स्तुति की जिसे नारो निकायों के देवों ने मुना । हे परमेश्वर ! हे बीहराय ! हे केवल ज्ञान रूपी कमल पराम से भूषित ! हे लोकरूपी महल के आधारभूत लंग ! हे सकल आरम्भ और दंग के न्यायी ! हे त्रिभुवन में भ्रमणे वाले नित भ्रमर को रोकने आले । हे आननाथ ! हे काम नाशक ! हे भीम संसार सागर को पार करने के लिये पोतलहप ! लंकार की उत्पत्ति और शोक के नाशक ! हे नहा मिथ्याद्व रूपी भने तिमिर के नाशक सूर्त्य ! विनय-सुखत नदमस्तक भवतजनों की आशा दूरी रहने वाले ! हे देवीं दारा यजाई गई भेरी के शब्द से युक्त । हे महतक के कुटिल केशों की इयां उखाड़ने वाले ! धर्म मान का उपदेश देने में दथ ! हे अति तीव्र वो प्रकार तद तपने से कीण, आपको जय हो ।

जिण पाज हो गम पासहो थुइ विरएवि पहंणणु ।
उयचिद्गुज जण दिहुउ णिय कोदुएगुणि रेजणु ॥ १॥

एस्यंतरि पुचिठु अस्तुहणाहु । बज्जरड विषिज्जिय मयण दाहु ।
शो विह हवंति असुहर सकोहु । संसारिय (सिद्धप) सिद्ध योहु ।
जिमिफहु दुहु कमट्ट भुक्क । ते भग्निय सिद्ध जे भिद्धि दुक्क ॥
तत्तारिय पुणु दुविहा लुक्ति । यहु दुखर भरिय भडगड भरंति ॥
थावर जंगम भ्रेण जाणि । इग्निभल दुद्धिए मांग भति जाणि ॥
एइटियाह धावरइ वंति । वे इन्द्रिय पहु जंगम वरंति ॥
ते पुणु दुविहा जाणिय जिणेण । सयल यि ग्रभव्य भव्वत्तणेण ॥
सिज्जंति होति ते जीय भव्य । यिज्जंति क्याविण पुणु ग्रभव्य ॥
संसारिय भसुहर धहु यिलेमु । जोणीसु भरंति महा दुहेगु ॥
जिहणडु ग्रथ्युध्यय चिह्निय जाऊ । यमरस पचायावि भव्यिय लोउ ॥

इस प्रकार भग्नाश रहित पाप्यं जिनेन्द्र भी स्वृति करके गुणोजनों का रंजन (प्रेम हृष्ण दाता) वह प्रभंजन नरेण ग्राने महत्त में वैठाओं और उसे सभ सोगों ने देखा ।

इसके पश्चात् पूछने पर वारस दाह को जीसने वाले पर्हेजाथ ने कहना आरंभ किया । जीव दो प्रकार के होते हैं । एक ऋषि गहिन संसारी और दूसरा प्रसिद्धयोध (पूर्णज्ञानी) सिद्ध । जो निष्ठप्त दुष्ट कमाप्तकों से रहित है, वे सिद्ध को प्राप्त जीव सिद्ध कहे जाते हैं । जो वृत्त दुखों से दूर जातियों में घूमते हैं, वे संसारी जीव दो प्रकार के हैं एक स्थावर और दूसरे जंगम । ऐसा निर्भल दुद्धि से जान और मन से भ्राति निकाल । जिनकी एक स्पर्शन इन्द्रियों हैं, वे स्थायर हैं । दो इग्नियादि जीय जो चरते फिरते हैं, वे जंगम कहताते हैं । ते तभी संसारी जीय प्रभव्य प्रांत भव्य के खेद से जिनेन्द्र ने दो प्रकार के वत्साए हैं । जो जीव सिद्ध को प्राप्त होने वाले हैं, वे जीव भव्य होते हैं । यमव्य जीय कभी भी सिद्ध नहीं होते । संसारी जीव महादुखों यस्ती अनेक प्रकार की योनियों में जिस तरह नवरसों के प्रयोग से लेता है । आश्वर्य में डाक्तरा दृष्टा नट भ्रमता है, वैसे ही भ्रमता है ।

तिह लितइ निलक्षणइ गुगलाइ जीव धिथिल ।
संजारए णिसारए ग्रसुह कम्ब पेरिय चिर ॥ ३० ॥

तिल मेसु णत्यितं भूपाएसु । सुण्णउ जि किपि जंपड जिणेतु ॥
जहि यिविह वाहि संदोह भीड । बहलेण ण गट्ठुप्पणु जीड ॥
णिल्लेयर भए भहिसिह जलाह । नुणि तत रत लक्ष्मवइ जि ताह ॥
पुणु चारि चारि लक्ष्मह सुराह । तिरिह शारद्यह भासुराह ॥
धो-धो लक्ष्मह वियलंदियाह । दह लक्ष्म वणणफङ्क लाईयाह ॥
चउदह लक्ष्मह मण्सह हवंति । केवल वोयणजिणभर चवंति ॥
चउरासी लक्ष्मह जोणि जाणि । सब्बह मिलिह जहि रमह पाणि ॥
आयहि भमंतु णिय कमणीड । विहियाहय विमयासतु जीउ ॥
ण रमह अस्त्रहगम भणिय धम्म । सगाइ णिदिय जण विहिय फम्म ॥
अह तहो ण दोसु णिय कम्ब मुतु । अवणेइ जिणेसर तण्ड तुतु ॥

जीव भी निश्चित कम से इम निस्सार संसार में भगादिकाल में ग्रसुन कर्मों से प्रेरित होकर अनेक लोकों को ग्रहण करता पाँर छोड़ता रहता है।

जिनेश कहते हैं कि जनत में तिजमात्र भी ऐसा कोई प्रदेश शून्य नहीं है, जहां अनेक प्रकार की व्याधियों से जीव जनय से नहीं मरा या उत्पत्त नहीं हुआ हो। नित्य निगोड़ इतर तिशीट, वायु कायिक, पृथ्वी कायिक, घरिन कायिक यांत्र जल कायिक वे तथा जीव सात-सात लाख हैं। फिर देव, तिर्त्त और तारकी जीव प्रत्येक चार-चार लाख हैं। विकलेन्द्रिय (दो, तीन, चार इन्द्रियों वाले जीव) प्रत्येक दो-दो लाख हैं। वनस्पति कायिक रस लाख हैं। मनुष्य चाँदह लाख होते हैं ऐसा केवल ज्ञानधारी जिनेन्द्र कहते हैं। जिनमें प्राणीजन भ्रगण करते या रमते हैं। ये सब मिलकर चारासी लाख जीव योनियां होती हैं। अपने कर्मों से प्रेरित जीव अनेक घापदाओं और विषयों में आसक्त हुआ इन योनियों में भ्रमता है। प्रागम कथित धर्म में यह जीव नहीं रमता और निदित जनों द्वारा किए कर्मों में सगा रहता है। यह उस जीव का दोष नहीं है, अपने कर्मों से युक्त जीव जिनेन्द्र के सूत्र को ढूर करता है।

पठ विदइ जिगु विदइ स्त्रय विल परिहृष्ट
वहिणु थहे तुर भण्डहू भोड गासु गउ गावह ॥ ॥ ॥ ॥

भोउ वि लव्धइ जिय देनिए । धन्मेण जीव मं भीसिए ॥
जं रव रथणु जग गवण हारि । पठबय गुण धारिणि सुद्य शारि ॥
बाहु बलु रथणमय हुह शिहूइ । वर वाहणु उत्तम कुल पनौइ ॥
सुसहोधर मुय मायापियाइ । सुहियग तवणागम सपुहियाइ ॥
एयाकवत्त महि लक्षित जुत । गिय चन चामः पददिव आरु ॥
देवग वस्त्र भोयपर विलित । पादय जग विरहन विनिह नित ॥
तं सन्दु वि जिण धन्मेण, होइ । फि विणूयोए कामु लहद कोइ ॥
कि वहणा विहले जपिलण, पुण पुणु वि नभिति विपविलण ॥
गवराय भणिय धन्मेण वस्त्र, सरिगय माणुत होषि पुक्क दध ॥
हरि हलहुल चमिक जिणेसराहे, भोयाइ होति णिज्ज्य सराहे ॥

जीव वशानवश जिनेन्द्र की निरा परता है । प्रव्याप्तवृत्ति की धारण करता रहता है और भीगों में आसदत रहता है । भला वंडीजत्तै डार मृत देवों और मनुष्यों के भोग किसे घच्छे नहीं समझते हैं । भोग भी जिनेन्द्र दत्तिल जीव द्वारा ल्ल धर्म के प्रभाव से प्राप्त होता है । जो लोगों के नेत्रों को प्रिय नुस्खा शरा, पांत्रदसा नीभायुक्त नारी, आँखेल, उल्लभी पर, विभूति, उत्तम वाहन, उत्तम कुल में दम्भ, उत्तम भाई पुत्र, माता-पिता भिक्षन, शयन, आसन, शरीर के हितकारक, लक्ष्मीपुरुष एकछव भूमि, प्रभुत्व को दर्शनि वाले सफेद हुरते चामर, देयांन लस्त्र, विविश भोजन, धर्मेक प्रकार वे: रंगविरंगे लोगों द्वारा किए जाने वाले नाटक हैं, ये सब जैन धर्म में प्राप्त होते हैं । क्या ओई दिना वीज के भी धार्य को पाता है । वृत्तर कहने से नभ । वार-वार प्रसोवित में विकल्प से भो भरा ? है निरभिमान भद्र ! बोउराग कवित धर्म के प्रभाव से विनयी भवुध वासुदेव, वरदेव, वक्रवर्ती तथा कामशिङ्गी जितेश्वर का प्रसाद प्राप्त करते हैं ।

जो धर्मे कृप सम्मेविषु भोयइ मणि बंछड ।

सो सलिलइ हय कलिलइ जलहरेण विषु इच्छड ॥

धर्ममोदरि कोरइ नमइ तेण । विषु धर्मे होइ न सोकवु जेणा ।

गेहूंतरि दिउ शाहरइ दब्यु । तं वोलु विहूमणु वजणु भन्वु ॥

सुहि सप्तण पिवर गच्छतिताम । दुष्मण रंधंत नसङ्खु जाम ॥

इकु जि परदिण्ण परला नमु । यिअरु नज्जुप्रद होइ धमु ।

धर्ममुजि पियपियरइ धर्मु मितु । इधर्मुजि भुर नद व्रज धर्मु चिपा ।

संजाराथं पिचवंथु लोउ । नुर नद नाय संजानु दोउ ।

सरयामल धण समु जीत्रियव्यु । दिग लाणा साविदुव दब्यु ॥

संपासमाण घर दासि दास । छाया विलसन यिह तणु रहास ॥

कंदूवमु पविहिय दुखु कामु । गिरि सरि प्रवाह समु करण मामु ॥

केणुव जोश्वरु सुइण्व देहू । धण जल दुखुव सेणिपहु निणेहु ॥

जो मुखकारक धर्म के यिन्हे मन में नाईं की इच्छा रखते हैं, वे विना वादल के ही पानी को चाहते हैं, वदोकि धर्म के यिता सुख प्राप्त नहीं होता । इसलिए धर्म के अपर अपवी बुद्धि लगाइये । धन तो घर में ही पड़ा रह जाता है, दृष्टात् जाय नहीं जाता । मित्र, स्वजन, पिता, शोकगुन रेखे हुए समान तक ही जाते हैं, परन्तु परलोक में तो धर्म ही सहायक स्तित्र होता है । धर्म ही सख्ते अर्थों में भ्रिय माता-पिता, नित्र कल्पवृथ और धन है । निकट सम्बन्धियों को सत्याराग के तमान, भोवों को इन्द्र-धनुष के समान, धन को तृण परलगी द्वीज के समान, एन की आशा जो ठाया के सुख के समान, दुखकारक काम को खुजली के समान, इन्द्रियों के भनूह को पर्यंत ते निकली नदीं के प्रवाह के समान, यीवन को जाग के समान, रेह की स्वर्ण के समान, और स्लेह को बन में पढ़े जल के दुखुदे के समान जानिए ।

इम दुजिति संकुचिति इति शब्द लिख मानेये ।
विरएवी वारेवी कुरहिंजति तिगितसणि ॥ 13 ॥

बालेणवि दिरद्वयउ मु धम् । यथ भग्न असोनं यद वमग् ।
कि बासहो पवहइ जमूण झति । वहु विविह वाहि पदिति सजति ॥

धर्मेणु धर्मिय फःमंतरेणु । परिदाङ्डियमिन गाड द्रुतरेमु ॥
ठिटेपक गवेल्लपु करह देम । ध्रहचिनु अमराड लुयाड जेम ॥
परिदिउ जोट रोदावर्दिनु । पाणरह वगाय तह संतडिनु ॥
दंचतयन्द भसित्तुजग्न भाषु । उच्चरह लिपंतउ कालु भर्मु ॥
मा धर्मज कलित चिक्कु भयेण । निय भाणिद धम्मु किजिए ख्येण ॥
गिरिषु णिरणु कांड वारालु । ख्यनिहिय तम्मु पि हुहर कालु ॥
जुश समिला तंजो जोएण बीड । पावहण रत्तु णिय कम्म बीड ॥
पर कुगइ प्यासिय धम्म जम्म । ऊ मुणइ क्याति भणि भोखव मग्न ॥

इस प्रकार ज्ञान कर सका को ठोड़कर प्रश्न से नाशक जिनशासन में अपनी वृद्धि लगाइये और उसे कुमाने में जाने भेजे बचाइये ।

धर्म का मार्ग वो नहीं में प्रधील व्यक्तियों के लिए भी ग्रति प्रमम्प है । परन्तु ऐसे उसमें धर्म का पालन करना तो बालक के लिए भी उचित है क्योंकि अमराज नाना प्रकार की व्याधियों में अपनी जायित को प्रकट करके बालक को भी मार देता है । अमराज अन्यायी राजा की तरह इन दस डिग्राव्येषण करता रहता है । एंडह प्रवाद-रूपी वृक्ष की संतानियों में, राज श्रापतियों में कंसा हुया जीव मृत्यु शरीर व्याघ द्वारा खाया जाता है । वह और जितने श्रधिक रम्य लक्षण रह जाता है । इन लिये ग्राज कल का विचार ठोड़कर जिनेन्द्र परित धर्म को तत्काल ग्रहण करिजिए । कल धृषारहित थोर विकराल है और क्षम को ग्राग की तरह सब को जला देता है । यह जीव अपने कम्मों के प्रेरित दुग समिला संयोग से नरभव को पाता है । किरभों कुमति द्वारा प्रकाशित मिथ्या धर्म में तत यह जीव गत में कभी भी मोक्ष मार्ग को नहीं पाता ।

तणु भितउ चिम्मतउ जीउ अणि हपु अणाइउ ।

जिह बसउ तिह भुसउ सह अमुतु गुण राडउ ॥१४॥

मह मोहेदय कम्महो खेण । तह पुण लोडय भम्भहो रखेण ॥

कहियंतु यि जिणवर तणउ घम्मु । पडियजह जीउ ण दिश्चा सम्मु ॥

जिह वणा लब भेवह णगेइ । ज्ञानधू यि बद्धिशाइ वि हपेइ ॥

तिह भिर्छधउ जिणआह धन्नु । तियर्जाहि नमचज्जह अमुह दम्मु ॥

जिह रयण भूगि पत्तो यि कोहिय । गरण मुगाइ रण विसेनु तोहिय ॥

तिह कम्म भूमि पत्तो यि संनु । मेलह जिणवर उवर मु जंनु ॥

कहियंतु यिवर उवएर मग्ग । जाणाप्यार हे उहि सम्मु ॥

भव्येयरहिष्ट या छाइ केम । जब यात्याई तील जब विदु जेम ॥

उइए वि णाण किरणहि समिदे । जिणवर दिग्यारे जग नण सणिदे ॥

कि वण झूर भवियार यिदु । विद्येष्ट भम्मत पावालि विदु ॥

यह जीव तनु परिमाण है, चैतन्य माय ग्रनिधन और अनादि है। यह कर्ता है, भोक्ता भी है और स्वयं प्रमूर्त तथा गुण सम्पत्त है। यह जीव अंतरंग प्रहान मोह कर्म के उदय के बशीभूत होकर और लोकिक कर्मों में अनुराग के धारण सुखदायक जिनवर के धर्म को धारण नहीं करता। जैसे जन्म से अंधा अविव रंग भेद को नहीं जानता और कहने को नहीं स्वीकारता वैसे ही मिथ्या सत्य से अन्धा पुरुष जैन धर्म को न लाने स्वयं जानता है और न उपदेश से ही जानता है। यह फलकारिता अनुमोदन रूप तीन करणों से अणुभ कर्मों का आकृत्य करता रहता है। जैसे रहन गूमि को प्राप्त होने पर कोई दूसर रहनों के भेद को नहीं समझता, वैसे ही धर्म भूमि को प्राप्त होने पर भी जीव धर्म के भेद को न समझ कर जैन उपदेश को लायता है। जैसे कमलिनी के पते पर जस की वूद नहीं छहरती, वैसे ही अनन्ध के हृदय में ब्रह्म के हृष्टुओं से वस्त्र उत्तम उपदेश का मार्पि वासवार बताए जाने पर भी नहीं छहरता है। ज्ञान किरणों के नमृद्ध गमनुष्ठों के नन में तेज देने वाले जिनेन्द्र नूल्ज के उदय होने पर भी है भद्र। जिस पर पाण छपी भंवरे मंडरा रहे हैं, ऐसा दूर स्थित भव्यरूपी सम्म के से यिप्पमित हैं; नवता है।

चउबगाहूं मुमगगहूं भिन्न जेण पावेवउ ।
जंतपड़ धरणीवड़ पर निमित्तु यानेवउ ॥१५॥

तह विहु मुणिणाहैं धम्मस्थण । जिदमेश करिवी पाव समण ॥
धणुकंदा विरयते जणहै । भव भगव दुक्षु दुक्षु भव मणहै ॥
जिह जयण विहीणहै वण भेज । जिह वहिरहै जिपफलु होइ गेउ ॥
जिह जाणि धम्म कहै जिट्टुरहै । चोट्टव राम्म गल्लहै आरहै ॥
जामेण अम्मु नामणु गथ्य । नामाणामेणु परिवत्त गव्य ॥
मग्गम भेण्णा चालु निष्ण । दुदिए छिउ चायरिउ निष्ण ॥
जिह लोए जगर मणि थीगरहै । जयणामण दूर परि तह वशहै ॥
जिह जाणि धम्मु धम्महै नहंतु । ग्रंतह वज्जरह नहा रहंतु ॥
जो जारिसु विरयहै धम्म कम्मु । जो तारिसु भुज्जहै बण्ण सम्मु ॥
पर पविदारिवि दिहै कम्म पासु । पावइण जीउ सिव गवर वासु ॥

हे राजन ! नै तुमहै ऋथ उन चर वगों (द्रवा, ब्रेत, काल और भाव) के बारे में बतलाता हैं जिनके द्वारा उपवेश प्राप्त हो जाता है परन्तु इसे मी निमित्त मात्र ही समझिए ।

मुनिनाय द्वारा पाप वाँ शमन करने वाली धर्मकथा जियम से मुनानी चाहिए और संतार परिभ्रमण के दृष्टों से पीड़ित जीवों पर दशा बर्तनी चाहिए । जैसे अंधे व्यक्ति जो जिए नाटक का भेद जानता और वहरे व्यक्ति के लिए गोत्र निष्कल है, वैसे ही मिष्ठुर एवं मंद्रान्ध और कमाँ से भारी मनुष्यों के लिए धर्मकथा निष्कल है । हे गर्व को त्यानी धर्य ! वश्यपि सद्गुर श्रीजगदों में ध्रमं क्षम्भ लामान्य है परन्तु आगम के भेद से भिन्न-भिन्न आचरण हैं । वह वुदि से किसा जया है श्रीर आचार्योंने उसी प्रकार आचरण किया है जैसे लोह में कलार, भणि स्त्री, मनुष्य, शदन, आत्म, योड़े, हाथी और वृक्षों से परत्पर प्रभाव है, वैनेही वह धर्मों में महान् अन्तर है । है भद्र ! जो जैसा धर्म-कर्म करता है, वह वैष्ण ही सुख पाता है । परन्तु दृढ़ कर्म पाप को छोड़कर जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करता ।

जहि पवित्रलु नुह कोरलु उपरबइ थर साका हो ।
दुखाखउ कम्बाइड मो कि दृष्टु रह नौखटा ॥ १७ ॥

अह विह विरचहे तीरए जधम् । होविसंदेशु कीरु गुरम् ॥
जिन भणिड एउएका कि गुहन् । मो करए पम् विषएथ लुन् ॥
सो विहुण भमइ चिर भव समुदि । अह दुभय लक्ष्य जलधर रउदि ॥
कि पुणु तब सिर रामा रवन् । सहेजण जाण कीरु बंदु ।
अहरेण ओड गिहणड कि गम् । यगु त्रिह वारिय गिव्वाण पम् ॥
जिह अहराइड कीर वारवेन् । जिह कृबलद वेष्ट गहपणेम् ॥
जिह विषाणा तण्णलह फहयरेन् । जह ऊरांडाहिड गरवरेम् ॥
किह प्रभर महीहर महिहरेम् । जिह त्रिवद जिण नुर बरेम् ॥
जिह त्रिरियंदण तामहिहरेम् । जिह गघमलु तयदतु जलरहेम् ।
जिइ गिम्मतयर रथेमु वज्जु । तिह यारउ गणुदत्तणु मणोज्जु ॥

जहां निर्मल, शुभ केवल आम, दुखों का लक्ष्य, घर्म का ध्वनि उत्तम
सुख वाले मोक्ष का सार्थी धर्म है।

यद्यपि श्राप धर्म का पत्तन नहीं कर सकते, फिर भी उसमें आत्मा अवश्य रखनी
चाहिए। जो व्यक्ति जिनेन्द्र भाषित धर्म को विनायकत होकर एक भुहूते भी धारण
कर सकता है, वह अतिमान दुष्ट स्त्री लालों जलचरों से रोद मवसागर में चिरकाल तक नहीं
रहता। जो सभी स्त्री रमणी से रहता रहन्ना जान चरित्र से पुस्त है, वह
जीव तो निर्याण सुख को राखने वाले अष्ट प्रकार के कर्मों को क्या तष्ट नहीं करेगा।
जैसे हाथियों में ऐरावत, प्रहों में चन्द्रमा, एकियों में गहड़, राजाओं में लक्ष्यरत्न, पर्वतों में
मुमेल पर्वत, देवों में काम विनायी जिनेन्द्र, वृक्षों में कल्पवृक्ष, जलजात में निर्मल कमल,
निर्मल रत्नों में हीरा सार गाना जाता है, उसी प्रकार है गनोज ! चारों गतियों में मनुष्यत्व
सारभूत है।

॥ शता ॥

जिह ग्रविपल निय हरयल गमित रयणु पुणु दुस्लहु ।

अगुदापरे भवसापरे तिह पर जन्म वि वस्त्वहु ॥ १४ ॥

पत्ते वि गरतणि दुलहु होइ । कम्माधणि अमुण मधड जोइ ॥
 पत्ते वि कम्मभूमीए जमिम । अज्जउलु होइ दुल्लहु णरमिम ॥
 लद्वेवि मज्ज उति जिमुषतेइ । णीरोयतणु दुल्लहु हवेइ ॥
 णीरोयतणो लद्वेवि धमिम । नइ रम्हेण जिण मुह णिगगदमिम ॥
 अह करइधम्मु हय कम्म वक्खु । तह विहु परिपालणे होह दुवखु ॥
 जिह विरला चंदण कप्प रवख । हयदाह णित्रारिय चिलदृक्ख ॥
 तिह विरला महिवति भद्रिधणाह । जिण धम्म करण उच्छुय भणाह ॥
 जिस सरि सरि कुमशह होइ जम्मु । फितिहम्पयवत्त होहणिय धम्मु ॥
 सयवत्त भरिगु जिण णाह धम्मु । कुमुध ममूदयह करमरण जम्मु ॥
 जे अहृह मगिग लगांति जोव । त होते मोक्ष नदरीमा हीव ॥

जैसे अपने हाथ से गिरा हुआ रत्न किर पाना दुर्लभ है, वैसे ही अणुम की खानि इस भवसागर में भगुव्य जीवन पाना भी दुर्लभ है । योगी कहते हैं कि भगुव्य जीवन पा लेने पर भी कर्म-भूमि में जन्म तेना दुर्लभ है । कर्म-भूमि में भगुव्य जीवन पा लेने पर भी आर्यकुल पाना दुर्लभ है । जिनेन्द्र कहते हैं कि आर्यकुल पा लेने पर भी आरोग्य दुर्लभ है । आरोग्य पा लेने पर भी जिनमुख से निश्चले धर्म में दुःख नहीं रमती है । यदि कर्म वृक्ष को खण्डन करने वाला धर्म धारण कर भी से तो उसके पा लेने में दुख होता है । जैसे दाह को मिटाने वाले और चित्त प्रांख को शांति प्रदान करने वाले चत्वन श्रीरकल्पवृक्ष विरले हैं, उसी प्रकार जिन धर्म के करने में उत्सुक मन वाले भव्य पुरुष पृथ्वी पर विरले हैं । जैसे प्रत्येक सरोवर में कुमुदों का जन्म होता है, उसी प्रकार शोतत-प्रद सो पत्तों वाले कुमुद का जन्म होता सम्भव नहीं है । जिनमाध का धर्म शतपत्त कमल के समान है । मरण-जन्म को करने वाला इस धर्म कमल के समान है । जो जीव अहंत के माने का अवलन्वन करते हैं, वे मांश नगर में दीरक दुख होते हैं ।

जे इयर मनु सेवति धीण । ते भवि भमति दुह तथहि खोण ।
जिण वर्णु पहंजणु सुषिवि सब्ब । दिवखहेठिज मेलिंवि रजजदब्ब ॥

॥ षष्ठा ॥

उट्टेक्षिणु पणवेविण् पाहु हु गट्टल नुक्कलउ ।
यय विणवहि सतियर पाहि निरिहर नरिसमुहूलसउ ॥ 19 ॥
इय सिरि परा चरित रहयं यह निरिहरेण गुण भरियं
यणु मणियं भण्णेऊं पाट्टल णामेण भव्येण ॥
रविकिति पवाहणए पुहवील पहंजणहन गुणशिरिणी ।
जिणदिक्खः गिणहगए दहमों संधी लरि समक्तो ॥ 6 ॥ संधि 19 ॥ 6 ॥

जो दीन अन्य धर्म का अवलम्बन करते हैं, वे सेक्षणों दुखों से क्षीण हुए तंसार में
प्रसार करते हैं। इन प्रकार जिन भगवान का प्रबोधन सुन कर राजा प्रभंजन बहुत ही
प्रसान्न हुआ। उक्ता मुख दमत खिल गया; खड़े हो कर पाश्वनाथ मनवान को
नमस्कार करके राज्य द्रव्य को त्याग कर भगवान के पास नयनितदपूर्वक और तीनकरण-
पूर्वक मुति दीक्षा प्रदूषण की। इस प्रकार गुरुज्ञान, मनोज्ञपाण्डित्यस्ति की रचना बुध
श्रीधर ने की है और नट्टल भासक भव्य ने इसे अनुमोदित किया है। उस में रविकीर्ति
राजा का सम्बोधन और गुणनिधि प्रभजन नरेण का सम्बोधन तथा उक्तों जिन्दीक्षा
ग्रहण का वर्णन करने वाली दसवीं सन्धि समाप्त हुई।

पासणाह चरित

पूर्व कथा—

पासणाह चरित अपन्नंश भाषा की बृति है जिसकी रचना हरियाणा के प्रसिद्ध कवि श्रीधर द्वारा १११३ई० में पूर्ण की गई। पूर्व किश्तों में तोर्धकरों की मंगलस्तुति, पाश्वनाथ का जन्म, अभिषेक, यवन नरेश से युद्ध, दिगम्बरी दीक्षा लेने, असुराधिपति के घोर उपसर्ग, इन्द्र के वज्र-प्रहार, पाष्वप्रभु की महिमा, पाष्वप्रभु के मुख से वर्णोपदेश सुनकर कमठामुर का पश्चाताप करते हुए पाष्वप्रभु के चरणों में नतमस्तक होने, रविकीर्ति नरेश द्वारा बारह व्रतों का धारण किये जाने तथा गुणनिधि प्रभाजन नरेश द्वारा दीक्षा प्रहृण किये जाने का उल्लेख है।

प्रस्तुत किश्त में पाश्वनाथ के वातापसी गमन, राजा हयसेन को दीक्षा लेने के उपदेश, पोदनापुर नगरी की शोभा, यशविन्द नरेश के शौर्य तथा कीर्ति, प्रभावती की सुन्दरता तथा यश, विश्वभूति पुरोहित के दो पुत्रों—कमठ तथा श्री निधान महमूति—के जन्म, विश्वभूति तवा अनुभरी की शोक्षा सेने, मरुमूति को पुरोहित बनाने, कमठ का महमूति की भाष्या पर आभस्त होने, मरुमूति का भावज से इसका समाचार प्राप्त होने तथा अर्विद नरेश द्वारा कमठ को नगर से निकलवाये जाने, मरुमूति का पश्चाताप करते हुए भाई कमठ को खोजने जाना, तप करते कमठ द्वारा मरुमूति को मार दिये जाने, अर्विद नरेश द्वारा दीक्षा लेने और समुद्रक्षत सेठ को दान, दान का फल, दान का दाता, दान की विधि घोर पाद्र का भेद, दातार सात गुणों अभयदान, आहारदान, जास्तदान और उत्तम आंषध दान, उत्तम, मध्यम और निरुष्ट पाद्र की व्याख्या, समुद्रदत्त द्वारा शावक धर्म का पालन करने के बचन देने का सजीव चित्रण है।

इस का सम्पादन श्री मगरचन्द नाहटा द्वारा तथा टीका श्री दीपचन्द्र पंडिया द्वारा की गई है।

मत्याऽग्नेषु गुणवरस्य कविदिः साव्येषं अस्तन्यते
स्त्रीणां संततिभिर्जेन्द्रगतिभिः संगं सदा काम्पते
धर्मिष्टे एजीव्यते च वनम् जाङ्ग श्रिया मृच्यते
सर्वोमानिह नटदलः वितिलरे ओमाल्लिंगं धर्मधीः ॥४॥
भविष्यत उमलाकृ गुण रवयात्यर विवराशिवि जिष्ठ जिगथरुः ।
वाप्तारमि णवरिहि पीणिय रवपरिहि पवउ पासु केवल धह ॥५॥

नदण वणे ग्रावासिवउ जाम ।
हृष्यसेण हो वगवालेण लाम ॥
वज्ञभरिड पासु ग्राल्लउ देव ।
जनु पवहि पडहि चउविह वि देव ॥
तंभुणिदि पवणु उटिडउ तुरतु ।
जिद लाल्लह मुरु मन लदु नरतु ॥
हृरिताणु इलोनिल्ल ववण पोतु ।
तंरोल्लिल्ल भणु उद्दनिय रोमु ॥
जंपंतु समारिष्यु जाहुं तेत्यु ।
ग्रियसइ सामह तित्यदपरु जेत्यु ॥
छुडु परियणेण सहुं पुश्यिपातु ।
हृष्यसेणु पतु जय जय रवालु ॥

गुणों के सामार जित नूरे के बन जानी थीं पाश्वनाथ भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करते हुए (विहार करते-करते) विदाधरों को मनूषा करने वाली वाराणसी नगरी पहुंचे और वहाँ नंदन वन में छहरे । वनपाल ने हृष्यसेन नरेण को गूचित किया कि, हे देव ! जिनके चरणों में चारों प्रकार के देव गस्तु दुमाने हैं ये से 'पादवं प्रम् यहाँ आए हैं' वनपाल के वननों को मुनाहर राजा हृष्यसेन अपने पुत्र के मुख कमल को स्मरण करता तुरता उठा । राजा के नयन हृष्य के ग्रामीणों से प्राई हो गये, शरीर हृषित हो गया, रोम-बड़े हो गये और अपने परिजन को यह कहते हुए कि 'जहाँ देवों सहित तीयोंकर पास्वं विरामे हुए हैं वहाँ चलो । वह हृष्यसेन भूपाल अपने परिजनों सहित शीघ्र ही जय-जय भव्य करते हुए पहुंचा । तब ही हाथ में जारी जिये ग्रट्या देवी भी अपने पुत्र के समीप

ता तुरियसमागम अस्मदेवि । शिष्य मृग गर्भाद् निराच लेवि ॥
 गम पास पाप लिल दमणेण । पुष्पुन काम विद्मणेण ॥
 विज्ञिवि आणदिव शिष्य मणेण । विज्ञिवि गतहिय ते सुरवणेण ॥
 तित्पयक लणूभु होइ जाहे । के होति महीयलि तुल ताहे ॥

॥पत्र॥

जिणाय पणवेल्पिण मणि भावेणिण थोलु करिविणियकोट्ठए ।
 उवबिट्ठउ तुट्ठठ विहिणिय दुट्ठठ शिड द्रवजेण विमिट्ठए ॥ ॥

कर कमल जुमलू जोडिवि गारिदु । पुच्छइ बज्जरह शामिय सुर्द ॥
 जिणु जणिय सिद्धिणिदूषकमु । संगारि णिवइ शर जम्मु रम्मु ॥
 ते गावेयि जो साहूद ण पोक्कु । भांजम्मा जम्मि तुट्ठैण दुम्मु ॥
 तहो साहगत्यु जिम्मय मग्गु । मरेसण माल खरण चम्मगु ॥
 इउ नुणिवि नगादिव लेहि दिखख : जिणायाहू तणिय परिणयाणि मिक्कि ॥

तुरन्त या गढ़े । पाण (भवद्यन) दहित पाइव जिनेन्द्र के दर्शन करके अपने शशुभ भर्मों
 का नाश किया और दोनों ही राजा-रानी मन ही भन आनन्दित हुए । तब इन्द्र ने उन
 दोनों को सूब प्रभासा की सोठीक ही है । जिनके तीर्थेकर सरोखे देव पुर हो भला
 उनके तुल्य और कोन हो सकता है । जिनेन्द्र के चरणों से प्रणाम किया, मन में गुणों
 का ध्यान किया, स्तुति की ओर शनुष्ट हो कर शवु-संहारक यदु राजा उस विगिष्ट
 मनुष्यों की सभा में जाकर बैठ गया ।

राजा ने दोनों हाथ जोड़ अर पूछा । यद्य हंद मे नमस्तुत सिद्धि को प्राप्त एवं
 कर्मों के नाशक जिनेन्द्र कहने लगे, "हे नृपति, सेभार मे नर-जन्म ही भेष्ट है । उस को
 पाकर जो मोक्ष की सिद्धि नहीं करता, उसके जन्म-जन्म मे भी दुःख नहीं टूटते ।
 उस मोक्ष को साधने के लिये सम्पादवेन, सम्प्रज्ञान, सम्प्रबरित से समय (पूर्ण)
 एक निर्यन्त्र (साधु) मार्ग है । ऐसा समझ कर हे नरधिया ! तुम दीक्षा लेवो और जिननाय
 की शिक्षा को जानो । तिन दीक्षा को छोड़ कर योई शोक ताराक और परलोक

जिष्ठ दिवज्ञ मुमुक्षिण गतिथ प्राप्त । परमोपदी साहृणे मतिय मण्ड ॥
 इव कहुङ्क जिष्ठसर जिष्ठहो जाम । चड गुर जिकाउ सांतु लाग ॥
 इरथंतरे पतउ गावरारु । चिणएण णवतु चिनुद काठ ॥
 जर देव देव कमठासुरेण । उवसगु चिप्रत कमलेण केण ॥
 त सुणिथि परमद पावणामु । देवाहिदेउ लित्यपर पासु ॥

॥ बता ॥

दह-गथ-नहिण पर्णिवड कुँ । चिर तुणिवइ इल्लुजि जंबू दीवए ।
 जाणाविह माहहुरि, महत्ता रिणि हरि दाससि दिष्यर दीवए ॥ 2 ॥

तहो भजिज्ञ गतिथ कंचण गिररु । जिण गृहयनु करह जरु सिरि भुरिदु ॥
 तहो श्राहिणी भारहृदरितु गतिथ । जाहि चणि मंभति सच्छंद छतिथ ॥

तहि सध्ग समाणु सुरम्यु देसु । णिवसइ ग्रहंगु पवरप्पएमु ॥
 जहि पामरेहि पृष्ठिच्छु दंड । खंडिज्जहि भुणिहिव मयण कंड ॥
 जहि सरह नाति यहु फल भरेण ॥ ॥ पाय सविणय जाणामा देव भरेण ॥

सुधारक उपाय नहीं है । उस प्रकार जय जिनेश्वर ने राजा को कहा तभी चतुर्निधाय देव वहो आए । इसके पश्चात् जिसकी काथ विशुद्ध हो गई ऐसे नागराज ने आकर विनयपूर्वक कहा, हे देव ! देव ! धामकी अथ हो । यह बतलाइये कि कमलासुर ने धाम पर किस भारत्य से उपसर्ग किया । यह सुन कर पाप नाशक देवाधिदेव पाश्वं तीर्यकर कहने लगे, हे सहस्रफल के धारी नागराज स्थिर चित्त होकर स्पष्ट सुनो । जिसमें दो सूर्य, दो चंद्र रूपी दीपक हैं, जो नाना प्रकार के पर्वतों और महा नदियों का स्पत हैं, ऐसा जंबू द्वीप है ।

उस जंबूद्वीप के द्वीन में जिस के नीप पर इन्द्र जिनेन्द्र की अभिषेक रखते हैं, ऐसा मुमेह पर्यंत है । उसकी दक्षिण दिशा में भारतयर्थ क्षेत्र है जिसके बनों में हाथी रुच्छन्द विचरते हैं । उसमें स्वर्ग समान-मुरम्य देश है जो अमंग तथा उत्तम प्रदेशों वाला है । उस देश में मुनिमत जिस प्रकार भदन के धनुष को खंडित करते हैं, पामरजन (किसान) उस प्रकार पौड़ा ईच्छ के दंडों को काटते हैं, जिसमें अतिशय दुकी हुई विनीत जनता के समाने बहुत फलों के भार से लदी सालि शोमित होती है ।

जहि रामहंस कील हि सरेयु । चंद्रुएडिसु निति सिरहरेयु ॥
 जहि सिंह चरंतु गोहमु बणेयु । हंसो हु वसहइण गहंगणेयु ॥
 जहि पुण्णालिव सारपिय मसीज । सच्छंद जंति परिहरिवदीज ॥
 जसि जणरंजण णंदण घणाइ । उवकोविव मयखु कणाइ ॥
 जहि पहिप मिम्महिप महिथ मिलिन । पैक्खेपिण् पमरिय दक्ष वेलि ॥
 आलुचियि तहे दक्षहे फलाइ । आमाएवि चुनुभव जलाइ ॥

॥ वता ॥

पंदण तह फुलहे अइरणफुलहे सत्यरेयु विराजिय मन ।
 सोवंति मयतड पवरियमलड भोग भूमि मणु प्रोत्प ॥
 जहि ब्रह्म सुर ख्यर गरणाह मणहारि । पामेणार्जुर पोयणाडहरमाहारि ॥
 जहि कोविण क्यावि अहिलमइ परणारि । जहि चोरण मुसंति पहवंति
 जहिपारि ॥
 जहि मणिहु दाणाइ अणवरउ दोयुति । जहि महित झारंग छेलउ दीयंति ।
 जहि पवरतुरणरावाग मुट्ठिति । जहि रयण संजडिय जिणहरण णिट्ठति ।

जहां कमलों वाले सरोवरों दर चोच से मृणाल को लिये राजहंस छीड़ा करते हैं। जहां बनों में चरता हुआ धबल गोधन ऐसा सेहता है जैसे गमन में उड़ता हंस समूह ही हो। जहां पुश्चनी (बुलटा) दीपक को छोड़ कर स्वच्छंद गमन करती है। नदियां द्वीप को छोड़ कर प्रिय (समुद्र) के पास स्वच्छन्द गमन करती है। जहां काम के वाणों को कुपित करने वाले, जनता को प्रसन्न करने वाला सघन नंदन बन है, जहां पथिक, विलोए हुए मठे को छोड़ कर फैली हुई दाढ़ की बेलों को देखकर उन पर जटके फलों को तोड़ कर खाते हैं और नारियल का जलपान बार के श्रपनी यकान मिटाते हैं और अक्तिशय फूले हुए नंदन के वृक्षों के फूलों के विछाने पर आराम से शरीर फेला कर सोते हुए ऐसे लगते हैं जैसे भोग भूमि के मनुष्य हों।

उस देश में लक्ष्मी का घरी एवं टेवों, विचाघरों और नरेंद्रों के नन की लुभाने वाला थो पोदनापुर नाम का नगर है। उस नगर में काँड़ी भी पर नारी को नहीं चाहता। जहां चोर चोरी नहीं करते, शत्रु श्रपना प्रभाव नहीं जमाते। जहां मुनियों को निरन्तर दान दिए जाते हैं, जहां भैसे, हर्षण, वकरे नहीं काटे जाते, जहां सदा उत्तम त्रयों की घ्वनि (उत्तरवों) में होती रहती है, जहां रत्न जड़ित जिन चंतालयों का निर्माण भी समाप्त नहीं होता,

रह गुरुकल वाहिणि यिहूय दाह । चितिप यर पं सुर साहि साह ॥
 गरमहृव सुहातिय सय णिहाण । नभि कंति व सुहयृ सलिणहाण ॥
 वर पल्लव जिद कंकेत्तिव-पत । गुरमाएं प्रीणिय सयल पत ॥
 गरयव्वम मिरि णिम्मल गरीर । तुल धरणीहर मंतर वधीर ॥
 वर सीहिणी व यज्ञमिम छीण । उदाम काम कोका फ्रीण ॥
 जण गणण हारि लाक्ष्य यत्ति । श विहि इर्याय विष्णवाण सत्ति ॥
 ॥ पता ॥

तहो अतिय मरोहिड, वर उदरोहिड, विस्म भूद णामे जि ।
 जिण घम्मास्तउ मुजिपव भतउ जेख जम्होपिउ तेजनि ॥ 6 ॥
 तहो द्विरणि ध्वग्युधरि धरिय सील । पियवयणे जिय फलयंठि लील ॥
 तहो भुजंत हां रह गोस्थु गिर्ब्बु । यर हाव भाव विवृम्म मिभिर्ब्बु ॥
 उज्ज्वल वेण्णि तशुहृह दुग्गाल । आराहिय निर्वहर पथ मुण्णाल ॥
 पभिणिउ पहिलड कमठाहिदरणु । बीयउ मदभूद सिरो णिहाणु ॥

एगदाह को मिटाने वाली राजा के रूप की सरिता रूप थी । सेकड़ों
 सुभाषितों का निधान, ग्रनेक सूक्ष्मियों की जाता, अत्यन्त उत्तम वचनों वालों मानों
 सरस्वती थी । गुरु कर (नादनी उत्तम किरणों वाली होती है) सन्तिधान
 (उत्तम हावों वाली) मानो भन्न राजित थी ।

उक्त पल्लवों लीणना से थगाम, पव का जीतने वाली, सुप्रसाद (उत्तम भवित)
 से (दान देकर) लक्ष्म पातों को संतुष्ट करने वाली थी । निर्मल गरीर श्री धारक
 मानो धारद मेष की शोभा थी । वह धीर (स्त्विर) मानो कुलाचलों की
 परम्परा थी । यिहनों के नमान मध्य में भीषण थी । निर्वधन कागझीड़ा से
 प्रवीण थी । अक्ता के नेत्रों को सुभाने वाले सावध की गूति थी ।
 विजान शक्ति को दिखलाने वाली मानो विधि ही थी । उक्त नरेश के विश्वमूर्ति
 नाम का पुरोहित था जो एवंव आरोधित था । जिन धर्म में आकृत्ति, मुनिचरणों
 का भवत था । इसी कारण सारे असस्मुदाय का प्वार था ।

उम की गृहिणी का नाम अनुधरो था । वह श्रील धारिणी थीर प्रिय वचनों
 से कोकिल की लीसा को जीतने वाली थी । नित्य उत्तम हावभाव विश्वम
 से परिसूप्त, रस्तमुख को भोगते हुए उन दोनों के दो गुणवान् पुत्र उत्पन्न
 हुए जो श्रीधर पद मृणाल की आराधना करने वाले विष्णु भवत थे । पहला
 कमठ नाम का और दूसरा श्री निधान मश्मूर्ति नाम का था ।

पहिलउ परिणाविउ वर्षण कांत । बोयउ वि वसुधरि सोमकंत ॥
वर्णणवि लीलइ अचठंति जाम । जणणहो आइउ वहराउ ताम ॥

तदिसवि भंगुर संसार सुखु । मिरवयु सुहयरु केवलउ मुक्यु ॥
इय जाणिवि मिल्लिवि गेह वामु । एमुख्यहं भूमहं कंठरामु ॥

संगाहिय जिणिदहो तपिय दिक्षु । दक्षुणे आलविष्वथ नयत सिख ॥
तहो चिरह भरिय धर एरहरेय । थिय भूति व्रष्टुधरि दिव्य लेय ॥

॥ घटा ॥

इत्प्रतरे राएं, पश्चिम राएं, गिनुय वस जणवयपहो ।
जिहु गढ उवरोहित, उपसम सोहित, जिण पव्वज्जहे णथरहो ॥ 7 ॥

तं सूणिवि एरदें दुतु एउ । को परियाणद अरिहंतु देउ ।
शवसवि असार संसार भेउ । तं नुएवि णरेतमु भूमि देउ ॥

सविष्वथ्यउ मणिमि शोजि एवकु । जेजिउ मयरद्दउ धीरु एकु ॥
इय संसिवि आवाहिप तण्य । णारणहे तहो दिमकुल पसून ॥

पहले ने वहण कांता से तथा दूसरे ने चन्द्र सारीखी भनोहर वसुधरी से विवाह किया । दोनों ही लीला (मुड़) रो रहने लगे । पिता विष्वभूति को वैराग्य हो गया । उसने संसार के सुखों को नश्वर जान तथा केवल मोक्ष को निश्चय सुखकारक समझ कर गृह यास को छोड़ दिया और पञ्च रूप भूतों को कंठपाण समझ कर त्याग दिया धीर जिनेन्द्र की दीक्षा प्रहण कर ली । तत्काल ही सकल शिक्षा पाली (आगमों को जान लिया) । पति के विरह ने मरी हुई अनुधरी ने भी शीघ्र ही पर फत त्याग कर आधिका दीक्षा ले ली । इस के पश्चात रामयुक्त राजा ने दोनों के मुख की बात सुनी कि उपराम से शोभित पुरोहित जो जिन प्रब्रज्या (दीक्षा) के लिये नगर से चले गए हैं ।

राजा ने इस प्रकार कहा, 'मला उस नरेश द्वादृण को छोड़ कर अरहंतदेव की तथा और भी असार संसार के द्वल को कौन जान सकता है । मैं मानता हूं कि वही एक फृतार्थ है जिसने कि काम पर विजय पा ली और धीर हो कर स्थित हुआ । इस प्रकार विष्वभूति की खूब प्रशंसा की फिर उस नरनाथ ने द्विजकुल जात उसके दोनों पुत्रों को बुलाया ।

३२५१

१४६४

पाहुण रो बाप

[श्री भवरजाल गाहटा]

[नाहटाजी राजस्थानी साहित्य रा घणा प्रेसी है। काँणी लिखणे में आपसी बास चिनि है। प्राचीन कथाओं ने भी आप आपसी सोधी साधी बर महावरदार भासा सूर्य कणा देवं। —संगाइक]

पिंडत विष्णुदत्तजी रै विद्या भणनै री घणी हृस ही। घर में भरणा जिका तो भरणा पण आप सिगली विद्या रा पारगामी हूणै बास्ते कासोजी गया। जवान उमर, तीखी बुध, पढणे रो उछाय, चयदै वरमां तांहि सासतर, न्याय, वरम, सृति वर्गरे सिगलां रो पारवण कर लियो। विश्वासुर सूर्य सीख ले'र चरै आया। पिंडतजी रै भरवाली घणी पढ्योड़ी तो को ही नी पण कठ्योड़ी ही। रात रा हेत प्यार री बातां री बेळा पिंडत जी आपसी घणी सेखी बशरण लाग्या। पिंडताणी कैयो—अच्छा महाराज ! पाप रो वाप कुण ? पिंडत जी जित्ता सासतर पढ्या हा कठै पाप रे वाप रो नांव को आयो नी। सीता रो वाप जनक, राम रो वाप दसरथ, किमनजी रा चमुदेव इण तरे वेद पुराण में रिसि मुनि सिगलां रा वाप याद किया। पुराण में जठे कोई वाप रो पतो नहीं हो तो इन्द्र, लर्य, वरुण वर्गरे ई बता दिया। पण पाप रो वाप तो कठैह को बतायो दीसै नी। इण तरे विचारतां पिंडतजी देखयो पाछो कासी जाऊ। म्हारी पढाई अधूरी रेयी।

दूजै दिन भाग फाटै ही धोती कांवै नांख र दुर वर्द्धर हुया। पहली मजल में है जार एक भगतण रे घरै उतरथा। भगतण आदर दे दे पूछ्यो पिंडतजी कठै चाल्या ? पिंडतजी कैयो—१४ वरस कासी बास करयो पण वरवाली रो सुवाल—“पाप रो वाप कुण ?” रो पडूतर को दे सक्यो नी जिके सूर्य पाछो कासी जाऊ हूं। वेस्या कैयो महाराज ! आज तो रसोई आरोगो म्हारो घर पवित्र करो ! पिंडतजी तै भगतण रे घर री कच्ची या पक्की रसोई जीमण में बाया ही

जणै सीधो ले'र आपसी रोटी उतारी अर जीमण सारु विराज्या। इत्ते में ही भगतण आय र कैयो—महाराज ! म्हारै घर रा लाहु आप आरोगो म्हारै हाथ सूर्य तो है पतित पवित्र हू ज्याज़। पिंडतजी कैयो आ व्रत किस तरह हुवे ? वेस्या कैयो—महाराज ! थैं बाटकी भरोड़ी सोनै री म्होरां हू आप री भेट धरू, म्हारै हाथ रो लाहु खाणो पड़सी। आप जिसा महा विद्वान पिंडत म्हारै पतित रे हाथ रो कवो आरोगसी तो म्हारो जीवण सफल हूय जासी—आ कुपा तो जरुर करावो।

पिंडतजी रे मूर्ढे में, सानै री म्हारां भरोड़ी कटोरी देखर पणी चाल्यायो। थां रहतो निकल्दर कैयो—देख थारो इत्तो हठ है तो भनै थारी बात राखणी पड़सी। पण एक सरत है कि दूजै रे आगै आ बात मत करी ना अर लाहु म्हारै खरीर तै बूयां विना ऊचै मूर्ढे में नांख दिये ! भगतण कैयो ठीक !

बब पिंडतजी आरोगण सारु विराज्या। भगतण म्हारां री आथकी भेट धरी अर लाहु पिंडतजी रे मूर्ढे में नांख्या। पिंडतजी म्हो। उठाई दूर वेस्या चट पिंडतजी रो हाथ भाल लियो। पिंडतजी कैयो—आ कई थारै म्हारै बात हुयोड़ी ही कै हाथ कूणो नहीं। वेस्या कैयो—महाराज कासीजी क्यू जांवता हा ? पिंडतजी कैयो—पाप रो वाप कुण इयेरो जवाब लांवण नै। वेस्या कैयो—ओ अठैह उत्तर मिल्योक। पाप रो वाप लोभ है। जिका थे, म्हो भगतण रे घर रो कड़ लीमता जिका म्होरां रे लोभ में हाथ सूर्य कवो ले लियो। पिंडतजी सरमिन्दा हुवर आप रे बरा गया।

1

भारतीय इतिहास के लालों में
वाम-वाय, समिक्षा, वाचवराहितये
प्रादि जी प्रौढ़ विद्युत वेदों का नी
महावर्ण रथाच है, वर यही उक्त उच्चकी
जो दूसरे विद्युतों का भयन नहीं आता।
इसके ही प्रयत्न कारण है। एक ही ऐसे
एक विकास ही कम है और जो वाह है
उसका भी कांटे संभव पन्थ प्रकाशित नहीं
हुआ। अतएव सुनि जिविविद्याजी ने
जैन विद्युतों के उत्तिष्ठ विद्यिष्ठ विद्युति
वेदों का संमान कर संसादन किया है
जो सिपी जैन प्रवल्लाजा द्वारा शीघ्र ही
प्रकाशित होने गए हैं। अतिरि हे सभी
एक वैन विद्युतों के जिविव होने से उन्हें
इतिहास से ही अधिक सम्मर्च्य उत्पन्न है
जिस से इनसे तब्बाकीन नगर-द्वारों,
राजवालों, मंडिरों, दर्सिद्ध भ्रातृकों,
वनवालों की पर्यावरण वाचवा, दरमानिक
स्थिति आदि अनेक घटनों की नहरन्दार्ह
जानकारी प्रश्न दोताह है जो कि अन्यत
दर्शत है।

कुमिलिनविजयपत्री सम्पादित विज्ञप्ति
खेत दंगर में पथ एवं रथ के कारण,
साहित्यिक इष्टिं से भी महावृष्टि घोड़े
घोटे वहे खेत हैं, उन सभ में वहा एवं
जांची लहानबाज सं० १५१। का० ३८।
उसको पढ़ने पर कहो कहो कहो कहो कहो के
गद यह आमल दिलता है। अब
अनेक इष्टिं से प्रकृत देख बहुत ही
मूलबान है। कलकत्तान लहरनवधु-
चार्य औ निनंदनस्थिरी ने पलण से
चोरेण विभव दाना गत्र के एक
विशिष्ट विश्वान धाराए गोकहिलसुरि
को अपने विद्वान दीवीपात्रा, धर्मसंवारादि
संवाद प्रेष्य के रूप में ऐ सेप सहनदेन
भवि से जिसका कर देखा है। इस सेप
की कपिष्ठव महावृष्टि पातो का परिवर्ष
देकर इश्वर। देखिंदिक संविहाराद
प्रहृत चेष्ट में प्रवृत्तित क्षिया वा रहा।
यह सार मेरे सम्बन्ध विय वा० दशवर्ष
चर्वा ने दिल देनी की रुपा की है। इस
के लिए मे उनका विशेष रूप से धारारी
6।

धेता विद्युत कहा लग चुका है कि विषु बन्ध में यह भट्टा धेता सुविध बुझा दे जानी चाह पर इसको धियत नहीं बुझा है, पर उसके अन्योनन थी कही जातु-
करा थी। इस शुद्धिकी को उसके सुविध वर्णन ही में ही भी एकमात्रता
पर, आदरे अन्ये भेतों की महत्वी छापा
की है इसके छिपे उत्तरण भी मैं एहा
शामली हूँ।

विभागी लेख का नदरत्व

1.—क्षेत्र के पश्चिम में ही इससे १५
डोलरियर के बाज़ पत्र को दृढ़ा
ही महीं दी गयी थीन उसके कलिपय
महाराष्ट्र राज्य सरकारी को इसमें दाता-

पोने छः सौ वर्ष प्राचीन विज्ञप्ति पत्र

(**ਧ੍ਰੀ ਜਾਨਸ਼ਵਰ ਜੀ ਚਾਹਦਾ ਸੰਭਾਲ ਕਰਾਉਣ ਮੁਹਤੀ**)

द्विपा पापा है ; अब इस पवर के लिये मैं पह भी इसके पुढ़र व्यापार सम्पादन की रुपाएँ देख रख से दो गई हैं । अते उसकर आजाये जो ने नामीर से इसमें देवित हो लगु देखो का इकलौता किया है । ऐ पर भ्रो अब यह पाहे पहरे हैं वह इस इकलौते से इतने गृह-गृही तथाओं में भी परम प्रेषण किरा मकार चिकित्सि स्थ रहे हैं । अरह या, यहाँ लिखते हैं ।

—परं पैसे के नेमोंधों की बात का प्राचीन उल्लेख मादः यहाँ नहीं होते अंडे अन्वे वर्ष से पहां पात्रकों के पर नहीं होते। थोड़ा यहाँ के सम्बन्ध में हमली जारीकरी नवयन स्त्री है। जिम्मेदारि के प्रभावत लंबे १४१३ के गतवर्ष लंग के अन्तर्वर्ष दृश्य के लीपों, एविडन्ट, वाइटड के नामोल्लेज एवं प्रयोग्या में चातुर्भास करते का यह पहला उल्लेख है। अप्रोग्या में जाहां आज एक भी जेंडर का शर नहीं है, तब सभव अवश्य बढ़ता था। इसी से यहे यहे जीवाणुओं के वायुमाल चर्दी हुआ रहते थे। इसी प्रकार 'विहार' में भी उस समय जैवों की घरेलू बढ़ती थी।

—मेराइ में भ्रतरामरक के आचार्यों के विहार का उल्लंघन जो विक्रम कृष्ण से नहीं मिलता। इस जैल में भिरो-दब्दारि के रूप संवित्त के कुपराम्र रामरेत्र विष के भाष्य से भेदाद के विवेक स्थानों में प्रयोग का विवरण दर्शायें देते हैं। कठोरउपादानवापि सीप

कर उस समय जो कठोरता महाव था
इसका इस लेख से गलीभूत प्रता
प्रता है।
—खरवरामचन्द्र के दिग्गिस का सबसे
महादद्युषण ब्रह्म नुगाली है जिसमें ११
के शरण में हैं १२४३४५५। तिरसूर
हिंदूहस है। निष्ठिरारी निष्ठिरद-
गूर्हांती से जिल्लधर्मराजी तक के
धारालों के महाद एवं कांडों का
जिरंदा तो वस्त्रमें संवाधाकम है यहाँ
आता है। ५४ इसके पांचे के १५-१६
की राधाभट्टी के द्वितीय में सापन
द्वारा ही लगता है। शुनियो के द्वितीय
होते का संवाद निर्देश थी। उपलब्ध ही
नहीं है। तब प्रश्नियों लें सुनियो के
पांच को कहा। ५५ जोह ऐसे का पक्ष
सारे साध्य है। इसमें कठोरक पारं-
नाम डोर्म में जिमसुनियों वर्ष साध्यों
की दीक्षा उड़ी थी, उचका गुरुस्थानका
का परिचय भी देखिया गया है जो कि

प्रसूत ही महायपलं है। प्रगते चलनार
देवदत्तन में दो भुमियों का दापत तुरं
दापत भी इसमें निर्भय है।

२—शाशुद्ध पर्सियनोट बीराइ के भी स्थान अंतर्गत हैं, इसकी वज्रों के लिये देवतावर बीरा और सारांग ने संप्रियकाल या। इस देवता में जगह दिसन्त रखने हैं जो कि अस्त्र रुद्रों से उपर्युक्त रहते। योगदाता के प्रशंसा में बहुत देर सही के प्राप्त वरों का एवं वहाँ के जीन के दिये या जी डिविल राया जाते हैं। उम्म इवानों में विकल्प सेवर ने पांचव भैंडिटाव यथ है या भट्टा, जुन्नेपर्यावर है।

—इसी बय के पास लहौरी ने
माझे विजयवान के स्वीकृतिने हासि-
का गुण समूलवाली दाता उन चारों
दिन अशाकिरण दरबारीवे न जाने का
महाश्वर्ण निर्देश है। महोऽविजयवा-
प्य योग्यमात्र के विभिन्न ६ रुप में
दिव्य एवं विभिन्न एवं रामस्थली लालिक
में दृश्य है। इति रात ही इच्छा
में १५२२ में हुई। इसके पश्चात्
में कदम उके विषयमें ये ज्ञान न पा।
इस विभिन्न रूप से तो १५२१ तक
उनकी विषयमानभूत विभिन्निय होती है।
उनका विशेष विभिन्न हमारे "राम भी
विनकुलधर्मी" उत्तर ने दे दिया
महसूस है।

—सुदूरशासनों के बाहर आज ये कितनी विशेष जैव मूलियों पर अधिकारों का विनाश होता है। इक्षका अनुबंध खारतमें एक प्राचीन वैज्ञानिक विद्यालयों के प्रशिक्षण विभागों को ले कर आपसे मिल जाता है। युवाओं वर्ष महसूसित विकल्पों विशेष भौत विद्याओं—जैव

परिपादियों से बहुत कम है वह रूपन से
भगवान के मंदिर वे ग्राम भोला हैं।
हिमा लेही चौपातियाठी खड़ि में
मंदिरपाली मूर्तियों की दृक्षणा वा पाठ्य
जाती है। उसकी तुलना चर्णान में
करने पर हमारो इतराएं जैव नूतनियों
पर तैरहो मंदिर जुलूसान साधनक
में गह झोएवे रिस दोढ़ा है। तुवांकली
पर प्रसन्नत खेल में ऊब करी तिथि
प्राचार्यने बिल्डा व प्रधानक औप
से नवान की पूर्ति मन्त्रिधि की,
इसका विवरण फिलता है। उसमें से
अधिकांश मूर्तियों आज की यी तिथि-
मान नहीं है। अथा, इस प्रजापि लेख
में (1) राघवू के वैभागिरि व विशु-
क्तावल एवं पर व्याप्ति जिन्दगादों
के तिर्माल पर लोहितधार्य के

प्राकृतिक वित्त संकेतियों की प्रतिक्रिया का दर्शन होता है, एवं उसके बारे में इसमें इसका अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। (२) नियोजन से विभिन्न विषयों के विवरण एवं उनका विवरण (विवरण) में (३०-१९४० वा २०-२० विवरण) प्रतिक्रिया सहाय्यक रूप से विषय में लकड़ी के विवरण संकेतियों व विभिन्न विषयों की प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया का विवरण है, एवं उनमें से जीव विवरण कोई प्रतिक्रिया नहीं है। (४) इसी प्रकार वर्ष १९२१ + लेख रुपरेखा को विवरण पर प्रतिक्रिया-सहाय्यक रूप से विषयमें इस संकेतियों की प्रतिक्रिया विवरण विषयों के बारे में है। एवं यह वे विवरणों में एवं वे संकेतिया विवरण एवं वे

— रिम्मि देख करते हुए को
उन लाखों का परिवह समय साधना
के इस प्राप्ति तक होता है—

१. लोधिनपुर—गज यात्रा हो।
इह भी जिंदगी की है इसके
अंत जो पुराण दिवालय है,
इसमें उस साथ हमकी बहुत
आधुनि प्रतिका उमा आती है।
इनमें रूपवत् अनुभव यथावत्
स्थापन बनता है। जिंदगी की
लोके एट एर जिगरावद्यती जो
एट् १९३२ फारब ए औ पाण्ड
में उत्तरांत्रियांत्रित हिया था।

१. जिसीद्वयार्थीने—शापका जिशो परिवर्त इसमें संवादित है। जैव आवासप्रद में ऐसा क्या पायिये। उसके रचित विभिन्नभाषण का उल्लेख बहुत गुरुत्व करियो का भाव। यह है। आपका शास्त्रिक जिम्मेदारन हो। एक हमें उपलब्ध है।

५. तेजस्वीति—ये १४० में प्राप्त
तिरित खट्टरसगच्छाप विवाहित
रामेश को विशेष यति यज्ञो के
महिमा सहि भवारा में विनाशन दि-

५. ग्राम कलश—इसमें रविता श्रियोग्य
सुनि पहाड़िये करामः हमारे लेपाहिन
वैः जैः काम स्वैः दें प्रकाशित हैं।

४. गेहनद्वान—दारक रसित त्रिसोट्रिस
त्रिट्रिकाहसा उपर्युक्त प्रभ मे
ष्टकामिति हि एवं इतद्वयत्वात् साध्य

है। विमोदरवर्ति प्राप्तके दीप्ति एवं
तिष्ठा युक्त है। आपको विद्वान् ल
पतिताकां गम्भीर विलक्षण है।

६. वामाचर्त—वैभवः सामर्थ्यंन्युभि
शक्ता जी आप भी विद्वान् हैं।
हेमूल उद्धर आप ही हैं। विद्वान्
तृतीयों के आरक्षा आपाने पर
दिशा या। विमोदरवर्ति भूर्भुवि
शी की पद स्थापना हृषीकेशी की हो।
आपके पदभार नामगमन्युभि ऐ पूर्ण
दित्य अर्दिक है।

१८६६
८६६६

पृथ्वीराज रासो के बृहद संस्करण के उद्घारक अमरसिंह द्वितीय थे?

धी अनुरचन्द नाहाडा

साहित्य सन्देश के गत अम्रेल अक्क में पृथ्वीराज रासो के बृहद संस्करण के उद्घारक-शिरीषक मेरा लेख था है उस पर “पुनः विचार” के रूप में भी गहरा-प्रसाद कमठान का गहरा थङ्क में लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने अन्य प्रष्ठियों में चार वर्द पृथ्वी सरदार उमरसिंह के मन्थागार में उनकी देखी हुई रासो की प्रति का बहु उद्घरण दिया है जिसमें “राम जगतेषु त्रये” के स्थान पर “अमरा दत्तीय अप” पाठ है। इस पर से रासो के बृहद संस्करण के उद्घारक अमरसिंह द्वितीय होने का मत पुष्ट करते हुए हम पाठ में से मेरे मत वा व्याख्या ही जाता है, लिखते हैं। पर वह उनकी रादीया भूल है। “अमर दत्तीय” का पाठ भिल जाने से ही मेरा मत खारिज होता क्योंकि मैंने जिन आधारों पर अपना मत रखा है, उस पर विचार करना चाहिये। मैंने सदृश लिखा था कि अमरसिंह द्वितीय के समय से पहिले की लिखित बृहद रूपान्तर की प्रतियाँ प्राप्त हैं अतएव इससे अमरजिह द्वितीय के उद्घारक होने का कथन सदृश अचिक्षा हो जाता है। दूसरी बात यह है कि जब अमरसिंह के समय से पहिले की लिखी हुई प्रति में वही पद भिल जाता है और उसमें अगतेश पाठ स्पष्ट है, तब तो अमरसिंह द्वितीय याला पाठ जिरा प्रति में होना बहु अति उसके बाद की है और अमरसिंह द्वितीय के समय में लिखी हुई या उस सारण की लिखी हुई प्रति की प्रतिलिपि है। यह पाठ का परिवर्तन निश्चय ही थीं, से प्रति लेखकादि भिलों ने किया है। और इसी पर से मैंने यह लिखा था यह अमरव है “सं० १७६० में जब अमरसिंह के उसमें वाली प्रति लिखी गई तब उसमें जगतेश के स्थान पर अमरेश पाठ परिवर्तित कर दिया गया हो या अमरेश

पाठ प्राचीन हो और जगतेश परवर्ती पाठ हो तो अमरसिंह “हला होना चाहिए।”

कमठाराजी ने ऊरदार उमरावरिह का ग्रन्थागार कहा है थोरा उस संग्रह की रासो की जो प्रति उन्होंने देखी थी, किस समय की लिखी हुई है—इसका विदेश नहीं किया जो आदर्शयक था। अपका यह लिखना भी रही “सज्जत नहीं है कि” इस ऐतिहासिक पथ पर तत्कालीन परिवर्तियों को आगे रख कर एक दृष्टि आलने से यह (अमरसिंह द्वितीय का नाम) ठीक साझा नहीं है क्योंकि अमरसिंह प्रथम द्वा काल उत्तर्वे का युग रहा द्विर भला अमरसिंह प्रथम को रासों की समस्त उम्मीदों को जो लिखी हुई थी, युपम्यादिन करने वा अवकाश कर्ने था। यादव में तत्कालीन ऐतिहासिक साम्राज्य के उत्कलन के प्रबन्ध पर विद्या फर्जे से यह स्पष्ट है कि याकबर के समय राजाओं ने अपने ग्राचीन गौरव को प्राप्त करने वाले इतिहासों की संप्रदीत करदाने का प्रबन्ध किया था। एपातों तामक राजकीय इतिहास प्रथमों का लिखा जाता अबकर के रूपमें ही प्रारम्भ हुआ था। गासों के ऐतिहासिक प्रथम के रूप में प्रतिदिन के दारण उस समय भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखो का उदार वा सङ्कलन हुआ। रासों के उन स्थानों का उदार वा सङ्कलन हुआ। रासों के उन स्थानों में शूरप वंशीय दूरसिंह के पुत्र नामसिंह ने इस उत्कलरण का उद्घार किया स्पष्ट लिखा है—

महान् अन्तर्मुख सुव, झूरम चन्द उदार।
पासी पृथ्वीव राज की, राज्ञी लपि उत्तर।

X X X

पूरा लूट नरेउ हिन्दु हृद उदारि रवित्व।

खुनाथ चारितु हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिम जिमि
पृथ्वीराज गुजसु कवि चंद छृत, चन्दसिंह उद्धरिय इमि॥

मु० नेणसी री ख्यात के अनुसार आगेर कच्छा वटाराजा मानविंह के छोटे भाई युतिंह और उनके एक चौदसिंह (चौदसिंह) थे । उनका समय भी वही (अक्षय काल) पड़ता है । लघुतम लगान्तर की संति १६६७ की लिखी हुई प्रति चौकानेर के महाराजा रामविंह के छोटे भाई गाण के पुत्र भगवान्दास के पठनर्थ लिखी है । इन रथ रथों पर विचार करते हुए जेप चौकानेर यात्री ने लघुतम लगान्तर को लिखवाया और आगेर यात्री ने लघु संस्करण का उदार करवाया तो उनके समकालीन उदयपुर याले उदाराजा अनरसिंह प्रथम ने रासो के लिखे हुए पर्यावरण के संभावन करवाया था । यह बहुत अधिक सम्मद्द और समीजीन है । अनरसिंह प्रथम द्वे रासो के युतम्भादित करने का अवकाश कहाँ था ? लिखना भी दिनांगूण नहीं । भौंकि महाराणा ने रासो को स्वयं समाप्ति किया, यह न तो कहाँ लिया है और न समाप्त है । नाएं वह अपरिहित रथ ही न हो दियी थी । उनके दो आदेश से ही यह काम हुआ । इतका पथ में भी स्पष्ट उल्लेख है—‘हित ओ नुव अद्वितीय दियो ।’ काम तो करने याले काते हैं राजाश्री की तो आवा ही कानी है । और आज्ञा देकर अपरिहित प्रथम ने यह कार्य करवाया ।

वृहद संस्करण के उदारक अपरिहित द्वितीय तो उसके पदिशो की जिन्होंने हुई प्रतिवाद प्रिलने और एक में ‘जगतेश’ पाठ प्रिलने से उर्ध्वा असम्मद ही है । पर जैसा कि मैंने अशुमान किया है ‘जगतेश’ पाठ नी पीछे का होकर अगरेश पाठ प्राचीन हो तो अनरसिंह प्रथम ही उदारक माने जाने चाहिये । उपकी पुष्टि वृहद संस्करण के कुछ लश्लों की प्राचीन प्रतिवादों के प्राप्त होने से होती है । मानेंके रचने जी को रासो प्रति के गव्यवारों कुछ अहीं पिले हैं, पूरी प्रति नहीं भिजती । पर उसकी जिमि में पढ़ी जाता (उद्वाचार) का प्रयोग होने ते वह १३ वीं शताब्दी के पीछे थी तो नहीं होनी चाहिये । इसी प्रकार संदर्भतों टॉड फलकरन की ज्ञ. १६६२ बाली प्रति ने कुछ जगद ऐसे

पिले हैं जो लघुतम लघु और प्रथम लगान्तर से प्रथम करते हुए वृहद संस्करण के अधिक समीप हैं । इन दोनों प्रतिवादों का लेखन गोवाड में ही हुआ था और इससे हमें वृहद संस्करण के उदार के सूत्रों की प्राचीनता का स्पष्ट पता चल जाता है । अर्थात् जगत्-गिह से पदिशे मी वृहद संस्करण के कुछ जगद लिहित रथ में प्राप्त हैं । ऐसी दशा में अपरिहित प्रथम का इस संस्करण का उदारण होना अधिक सम्भव न सहज हो जाता है ।

कमटानजी और कुछ दूसरे विद्वानों ने पुरातन प्रथम संग्रह में प्रकाशित शृंखला जगत्वन्द प्रथम का रचनाकाल सं. १५२८ लिखा है वह भी यही नहीं है । यास्तव में वह प्राप्त प्रति का लेखन काल है रचना काल वी प्रति के अन्त में स्पष्ट लिखा है—“उत्तर १५२८ वर्ष मार्गिनिर १४ योग्येती कोरणगच्छे श्री रावदेव द्वारा शिष्येण मुग्निशुण दर्शनेन लिखी है । मु० उदपरोजयोगम” अर्थात् सं. १५२८ के मार्गिनिर्द १४ लोमधार के दिन कोरण गच्छीय श्री रावदेव द्वारा के शिष्य मुग्नि ने गुणदर्शन गुणि उदयराज के लिये लिखी ।

नुनि जिन दिव्यजी ने इह प्रति वा परिचय देने हुए लिखा है कि “प्रति का समस्त अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह पूरी प्रति मुनि गुणदर्शन की लिखी हुई नहीं है इसकी लिखावट दो तीन तरह की मालूम देती है । प्रथम पत्र से लेकर १५ वे पत्र के प्रारम्भ की दो पंक्तियों तक की लिखावट किसी दूसरे के हाथ की है और फिर उसमें भी दो तरह की कलम मालूम देती है और उससे आगे की सब लिखावट मुनि गुणदर्शन के हाथ पी है । प्रति का लेख कुछ अव्यवस्थित और प्राप्तः शशुद्ध है । कहाँ-कहाँ दृष्टि भी है । कई तथ्यों पर जिप्रकारों ने अद्वृतों तथा पंक्तियों की पूर्ति के लिए इस प्रकार के अपार प्रत्येक पी जगद रह लोही है । सातवें पन्ने की

(शेष पृष्ठ २०७ पर देखिए)

(पृष्ठ १०१ का शोधांश)

दूसरी पृष्ठ पर तो पूरी गारण्च प्रति इस प्रकार आली रखी हुई है इससे दो बातें सचित होती हैं। एक सो यह कि यह ऐसी प्रति एक साथ और पक्ष द्वाध ते नहीं लिखी गई। इसका प्रारम्भ फिरी दूसरे ने किया और सामान किसी दूसरे के द्वाध से हुआ। दूसरी बात यह है कि इसका मूल आदर्श भी कोई एक ही सम्भान होकर चुदा-चुदा दो-तीन संबद्ध होने चाहिए। चिनाय इसके, मूल आदर्शों में से कोई प्रति ऐसी भी मालूम देती है जो बुटि या सरिष्टा हो। ऐसा होना यह जात करता है कि यह प्रति ताल-पत्रात्मक होनी चाहिए और उसका कुछ नव-भ्रष्ट और कोई नया रिखुल हो गया होना चाहिए। ताल-पत्र लिखित पुस्तक ग्रन्थों में प्राप्त ऐसा हीना होता है। उसके डडार त्वरण जो एक्षुंस कागज घर ग्रन्थ लिखे गये उनमें ऐसे सरिष्ट या बुटि भग्न भी रखना करने वाले अनेक रिक्त स्थान, वैसे उस ग्रन्थ में देखे जाते हैं। इसके उपरान्त यह प्रति भी बहुत

जीर्ण दशा को प्राप्त हो रही है।

मुनिजी के उपरोक्त प्रति परिचय से यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराज रास्तो को जो पद्य पृथ्वीराज और नवचन्द्र प्रबन्ध में मिले हैं उनका स्थना काल तो प्राचीन है ही पर लेखन काल तो १५२८ से पहिले का ही है। न्योंकि ये दोनों प्रबन्ध पत्र १२ व १४ में लिखे मिले हैं। और मुनिजी की सूनतानुसार १५वें पत्र के पाद के पन्न ही सं० १५२८ के लिखे हुए हैं। इससे पहिले के पन्न उससे कुछ न कुछ। पहिले होने, जिसकी पूर्ति १५२८ में गुणवर्द्धन ने लिख कर की। मुनिजी के कथनानुसार इस प्रति का आदर्श तालपत्रीय प्रति हो तो निस्सन्देह इन पद्यों का लेखन रामय १३, १४ वीं शताब्दी तक पहुँच जायगा। इनकी जाता भी उसी रामय की है। अतः दिलाग शोध इन प्रबन्धों का जो १५२८ रवताकाल निवेद्य करते हैं वह भ्रामक दृम्यशः उपलब्ध प्रति का लेखनकाल है, प्रबन्धों का स्थनाकाल नहीं।

पृथ्वीराज कृत 'वेलि' की तीन प्राचीन एवं महत्वपूर्ण प्रतियाँ

(वीर अनुच्छेद नं० ८८)

राजस्थानी साहित्य के काव्यों में पृथ्वीराज कृत 'किसन समयणी री वेलि' सबीं बहु प्रसिद्ध और अकृष्ट काव्य है। इतनी इतिहासित प्रतियाँ सैकड़ों की संख्या में दर्श-तद्र उपलब्ध हैं। यि. सं० १६६० वे लेख सं० १८०० ते वीच में इस काव्य की संग्रह और राजस्थानी दी आठ टीकाएँ और दो हिन्दी पश्चानुशास रखे गये और ४-५ संभित्र प्रतियाँ भी लेख की गईं। इतर दोनों वर्तमान में इनके ५ सटीक संग्रह भी प्रसारित हो चुके हैं। यद्यपि यह दो रोपनों में लिखका काव्य में इधर का पाठ्यक्रम में स्थान देते हुए याकौं से इनके दोनों प्रतियों की विवरण विवरण में उल्लेख है। इन दोनों से इनके दोनों प्रतियों की विवरण में इनका विवरण दोनों दोनों वर्तमान-प्रतियों की विवरण में उल्लेख है।

'किसन समयणी री वेलि' से पहले भी कुछ वेलि-काव्यों की रचना हुई। पर वे छोटे और साधारण हैं और इनमा व्यवित्र प्रचारभी नहीं हुआ। प्रस्तुत वेलि के रचनाते हैं वार वेलि-काव्य रहन वरी संख्या में रखे गये और उन काव्यों के सम्बन्ध में डॉ० वरेन्द्र भास्तव ने शोध-प्रबन्ध भालिय डाक्षा है। वेलि की इतिहासित प्रतियों में उपर्योगित प्राचीन प्रति अनुपसंकृत आइवेरो भी सं० १६६८ वाली ही अव तद्र मान्य रही है। पर यह प्रति तुटित है और उसमें लेखन-काल वेलि के अस में दिया हुआ नहीं है पर उसी प्राति में जो अन्य रचनाएँ हैं उन्ही में लेखन-संवत् दिया गया है। अतः उस प्रति में वेलि जिसी हुई है उसका लेखन सं० १६६८ के कुछ पहले प्रक्रिया भी ही समझा दें। निरिश्वर ह्य ऐ जो उससे प्राचीन महत्वपूर्ण प्रति प्राप्त है वह इसारे अपने जीवनांशालय में है और उसमा विवरण परं द्वारा 'राजस्थान-पारता' भगव अंह १०२ में प्रसारित दिया आ चुका है। अभी वेलि दी और भी उसी संवत् पार उपरे गए हैं इनके दोनों गहत्वपूर्ण प्रतियाँ देखने को मिली भिन्न का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है। इनमें से सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६४ को है जो दोटा के विभव गच्छ के उपर्य से प्राप्त एक संवद्-गुट के रूप में है। इन प्रतियों में दोनों सं० १०१ पर्य हैं, पर रचनाकाल दूरक पर्य नहीं है, प्रति की लेखन तुष्टिका इस प्रकार है—

३०१ ॥ इति वेलि समाप्ता सम्पूर्णा ॥ सं १९६५ दर्शे वेष्य ज्ञाने कृष्ण पते
ऐकादस्यां तिथौ शनिस्तर दारे ॥ लिखते शिकराज ॥ नाटक मध्ये ॥ अनुभवतु ॥

इयके तीन वर्द चार छोड़ी लिखी मृदु पति हमारे संप्रदाय के से प्रति भी
प्रत्यक्षकी और ध्यात गयी दी गया । इन पति को रो पिंगल उद्दनेय हैं ।

(१) समये १९६३ वाली प्रति में पथ संख्या ३०१ थी परं यहाँ में २६८
की संख्या दी है; पर वातव में यह अन्तः संख्या देते ही गढ़की ऐ कृष्ण से ही
है । (२) रचनाकाल-सूचक पर उस प्रति में भी नहीं था और इस प्रति में भी
मूल लहर में नहीं है, पर अपर के हासिये में मूल पन्थ के अन्तर से कुछ ढोटे और
मिन्न रूप में यह पथ लिखा हुआ है—

संश्त दोल विष्वल वरपट सोम श्रीज वैशाख समनि ।

स्वप्नमणि कृष्ण रम राम रमतं कथी वेलि शुदास कमनि ॥३०१॥

डा० जोतीबाल मेनारिचा ने उदयपुर की तीन प्रतियों से रचनाकाल संबन्धी
ज्ञो पथ अपने 'सत्त्वस्थान में दिनों के हस्तलिङ्गत प्रन्थों की खोज' पथम भाग के
पृष्ठ १३६-३७ में उद्धृत किया है उसमें 'सोत विष्वल' को जगद् इस से संबन्ध
नहमाले' पढ़ दें— यथोन्त उस प्रतियों के अनुनार रचनाकाल १९६३ वर्षात्था
दया था २८ ददो तथा दूसरे इस प्रति में निर्झा है उनके अनु २८५३ वाला
पठन भी मुख्यता लिए दीया दें :

इसी प्रति में पर्वाह २० से लेहर २६६ तक के पथ हैं। इसे पहले के
४ पथ काहो पहले से अप्राप्त मालून दोने हैं क्योंकि अप्सा इन पथों के पत्रांत ५
से पहले जो १५व शोध हैं वे मूल पति से कुदवद के तिब्बे २३८ लून देते हैं।
पहला पत्र नो अद्यावधि अप्राप्त है। प्रति की लेखन प्रशस्त उन दृश्य है—

इति श्री प्रदीपीराज कित वेलि समाप्ता ॥ शनित १९६३-६४ माद्रेस म.से
कृष्ण पते तिथौ ११ शनि दिने । मोतावाद वास्तवे ॥ माहाराजावाजि ओ नान-
कियनी विज्ञेयाद्ये ॥ थो ॥ प्रोहित ओ नार्तिइनो पुत्रः माडण पठ । ये ॥ थो॥

कुछ पत्तों को मिला है देखा तो कही-कही पाठ-मैद भी देखने से आया ।
चाहतर में अभी इससे भी प्राचोन प्रति को खोप्र अपेक्षित है ।

तोपरी प्रति राजस्थान प्राच्य दिग्ग प्रतिष्ठान, जोधपुर ऐसे संख्या संघर्ष से रुक्ष है। प्रात रा आवश्यक विवरण नीचे दिया जा रहा है।

यथापि यह मस्त १६६८ के लगुन मुदी में लिखी हुई है। इसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें पश्चों तो विशेषता २८% ही है। इस विवरी भी प्रतिकां प्रात हुई है उनमें पश्चा संख्या ३०० के बड़े ठाकुर राजानिहाजी संघ्य दिन वेलि के संतारण से मिला है देखा दो प्रारम्भ तक १८८३ में १८८४ आदी अन्तर है यह पश्चां १८८४ से २८५ तक के पश्चा दे जाही है। वेसे पश्चां १८६-१८७-१८८ और १८९ भी इस प्रति में नहीं हैं और पीछे वाले पश्चा आगे-पीछे लिखे हुये हैं। जैसे प्रकाशित संक्षण के पश्चा नम्बर २८७ से ३०३ तक के पश्चा इस प्रति में नम्बर २८४ से २८८ तक में हैं। और इसके बाद के नम्बर २८९ से २८८ तक के पश्चों की प्रकाशित संक्षण में क्रमांक २८८-२८९-२९०-२९१ और ६१ हैं। प्रकाशित संक्षण के पश्चां १८४ और १८५ इस प्रति में नहीं हैं। और इन प्रति में अन्तिम पश्चा "वेलि तस चोज" वाला है जो प्रकाशित संक्षण में पश्चां २८२ में आया है। इस प्रति ने प्रारम्भ के ११८ पश्चा नहीं हैं इसी पश्चा में पृथ्वीराज कृष्ण का नाम आता है।

पश्चां १३ से ३१ तक में वेलि लिखी हुई है प्रारम्भ के १५ पश्चों में ११४ पश्चा ये वे अभी प्राप्त नहीं हैं। वेलि के बाद कुनूरशत भी अग्रां १८८८ तक है और इसके बाद पृथ्वीराज चोइण राजों २ साल ४५ पश्चों में हुआ है। इसी जिमि पद्मन तजा रघुन थों से मिलते हैं उनकी प्रतिकां १८८८ के अनुसार लंबक १८६९ से उल्लेखन राज राज द्वा यह लघुत्तम संक्षण महाप्रजा संघरण भत्तों के पुत्र भगवान्दास के लिये यह प्रति लिखी हर है इसलिये बोधनेर के संवेदा और वेलि के रघुनि पृथ्वीराज भत्तों की प्रतिकां प्रति के जिवाने वाले भावानदास कौदुन्धिक सम्बन्ध है इसलिये इस प्रति का महत्व भी यह जाता है। योंते हैं अन्त में जो प्रशास्ति द्वा यह है उस पश्चा के नीचे रु कुद अग एट जाने से प्राप्त नहीं है। अन्यथा प्रति किसने और कहाँ जिखो य किसने जिकराई? इतना भी पता चल जाता है लेखन प्रशस्ति का इतना-सा अंत ही पढ़ा जा सकता है—“कृष्ण जी री वेल सम्पूर्ण छत्तू सम्बत् १६६८ आगष्ट खुरी १०० मवारे।

—नाहटों की गुबाह, बीमानेर

પ્રાણીશાંત રામાં કે લગ્નુતમ સંકરણ કા ગથ

[જી. — શ્રી રામાશુદ્ધ તાતોયા, ચીંડાંગ]



વિદ્યાને લગ્નુત વાલું લગેને શાંતાં હોય એવા એવાં નિષેષ વાદ મળિત ક્ષમ વિષાદ
કરતે હોય ; વૈન કુંતિને અભ્યાસ કરેને નિષેષ પ્રાણી પાઠિયે હોય એવા એવાં મને નિષેષ વિદ્યા
કે પ્રાણીઓ કોણ રહેણ (વિદ્ધા) નિવૃત હોય હોય હોય ; ઇસ શરીરન કા અયદાર દ્વારા કાંઈનો કે લિપા હોયા
હોય ; વાલુંનો કે રમાસ્ત્રાશ્ચાન કે લિપા કોણ ભાડો કે ઉચ્ચારણ કરતે કે લિપા રાખણેસ્ત્રાશ્ચારણ ને હોય
મેં ; અધ્યાત્મી અનુભૂતિઓ કા પ્રાણી અમુક પ્રાણાર કો અધ્યાત્મિક દૂરતા અધ્યત્ત કરતા હોય ; માનયતર
પ્રાણીઓ કે શાંતાંશ્ચારણ હોયા હોય, પર અદ્ભુત સૌપિત થીએ ઇસથા આશાય દર્શી કે કુલ યા ચાતિ
ચાતે પ્રાણી હી લાલ પાંચે હોય ; માનય મેં પ્રદૂષિત પ્રદાન કુદ્દિ પ્રથ પ્રિમેક શાંતિની
હોંતો હોય ; ઇન્દ્રાંશ્ચારણ એવી પ્રદૂષિતીની અન્ય પ્રાણીઓ માટે યાનુન અચિક હોયને સે શાંતોની કા અયદાર
ખી લાલને અધ્યાત્મ માનત હી કરતા હોય ; એદ્યાંશ્ચિક રૂપ મેં નાનામિચ્ચિત્તા મેં વિદ્ય વિન દિલસિલેવાર
ખાલ્દીની કા અયદાર કરતા હોય, ઉત્તોની કાણ નિર્મિકાર હી કાણ નન્દો હોય ; શાંતોની એ સાચ નિયારિકા
અનુભૂતિ હોયા હોય, તથ કાંચાલા પ્રીતાયા દ્વારા અનુભૂત તૈયાર હો ગાયા હોય ; સાંદ્રિષ્ટિક ભાષા ક્ષા
દિલસા તાં અદ્ભુત રોંગી માનદ હી પ્રીન્ટિક શાંતિની વિદ્યાએ હીમેં કે બાદ હી બનસ્તા હોય ।

સાધારણાં માનય કા સારા વચન અયદાર ગથ ને હી રોકાયે ; અદ્ભુતો યા વિશેષ
પથન પણ તુરાય છુન્દ પ્રશાસ યાદ્ય પણ પા પાઠ્યાંની સેંઝા પ્રાંતે હોય । વિશેષાં પ્રકાર સે શાંત ગુણિત
હોયને હુદ વારદ ને વિશેષાં રૂપ એવે શાંતિક પ્રશાસાર અયદાર હોયા હોય । ઇસ વિશેષતા ની
સાચ મેં રૂપાર હી નન્દો કાણ નન્દીન વિન્નોને કાણ કા અનુભૂત અનુભૂત સાંદ્રિષ્ટ કાણાંન
વિશેષિત વિદ્યા હોય । ગથ શાંતોની એ રૂપ અંતિરાલની કે વિન્નોના લાંબે એ રાખેંને ઉદ
ગથ કો દાદુ કા એ એ એ એ પાનાર અયદાર ગથની નિર્માણ હોય ।

ઉપર્યુક્ત વિશેષતા ને એવા હીં થીએ ઇસ પાઠી અનુભૂત કરતે હોય કે વચન અયદાર સથને
પહોલે વ સથસે અચિક ગથ મેં હી હોયા હોય ; બાલચ એવું અન્યાંશુ જનતા જી કાણ્ય કે સ્વરૂપ કો
નહીં જાનતે હોય કિયો સે ગુરુચન્દી સુગંગર પ્રશાસિત હી જાતે હોય કી થીએ હીં થીએ અનુભૂતણ મેં કુદુ તુસુબન્દી
ઘર લેતે હોય, વદ પ્રાત યાદ્ય હોય ; પર માનય હુર સમય કાણ્ય ને અયદાર નહીં કાર સકતા હોય ; ગથ
સ્વાતાંશ્ચિક હોય, એવું વિસાર થીએ પ્રદૂષ વુર્દું કિયા હુદા હોયા હોય ; પર ગથ ને બાબ્ધ દેંબે હુદ
નહીં હોયને ઉન્હે શાંતિ સમય એક ગલ દર્દી ને યાદ રાખા જીનેન હોયા હોય ; વિશેષાં લફાંની
દાદુને સાંદ્રિષ્ટ કિયે ક એવે જાતે હીં સુધિદા ગથ મેં હી હોયા હોય । એ વાસ્યોની સમરણ રખને કે
લિપા સુગ્રામક શીલ્પી કા નિર્માણ હુદા । વિન્નોની વર્ષ્ય કા શાંત એક જી ન હો કામ સે કસ શાંતોની
મેં સારભૂત વાદ હુદ જી જાદ એવ યાદ્ય કો જૂન રહતે હોય । કેસી વાસ્યો રચના વિદ્ધાનો દ્વારા હી

सम्पादित हो सकती है। जन साधारण में इसका जो रूप मिला। यह कहावती में देखा जा सकता है। उनमें सूत्र रूप में काम की शात थोड़े से थोड़े शब्दों में कही जाती है। अनुभव की प्रचानता होने से उनकी उपर्योगिता निर्धित दृष्टि है। सूत्रात्मक होने से वे बहावते सहज ही रमण्य हो जाती हैं और जब भी उनके अनुकूल प्रलंग उपस्थित हुआ, तत्काल वे स्मृति में आकर सुख के द्वारा निवृत हो जाती हैं।

बधान का अवधार गद्य प्रधान होने पर भी सरणि रखने में कठिनता होने से उसका स्थानीय कस है। जब स्मृति का हास होने लगा, तब से बहुत एवं चिरकाल तक याद रखने जाने की सुविधा के कारण पद्धति रथना को बहुत प्रधानता मिली थी। एवं यह यहाँ तक कि व्याकरण कोप वैद्यक एवं उपर्योगिता के कार्य दिवर्कों के प्रथम पद्धति में रखे जाने लगे। इससे पूर्व जब स्मृति तेज थी, इस देखते हैं कि वेद उपनिषद् आदि प्रथम एवं जैन व बौद्धों के प्राचीन प्रथम गद्य में ही लिखे गये हैं या गद्य प्रधान हैं और वे सेकड़ों एवं लहूचारिक वर्षों तक परम्परांगत करणोपकारण पढ़ाये एवं याद रहे हैं। जैन आगामी को ही छीनिये प्रवाद के अनुसार महावीर निर्माण के हृदृ० वर्ष तक वे स्मृतिक रूप से ही प्रचलित रहे हैं। तदनन्तर देवकृगनी भ्रमाभ्रगण ने यत्नमी में गद्य शास्त्रों को पुक्ष्य फर पथ्य रमण्य उनको संकलित कर पुस्तकालूक किये। वेद भी हत्तारों वर्षों तक करणस्थ ही रहे, बाँड़ और पटिक भी संकर्षी वर्ष याद किये गये। हमारे स्मृतियों ने जब स्मृति वा अत्यधिक हास होते देखा तो उन्हें भी खिपिवद् करता आवश्यक समझा। इसके धीरे ही उन्होंने सूत्रों को मूलरूप में सुरचित रखने के लिए समय-समय पर प्रयत्न अवश्य किया, क्योंकि सभी सनुष्यों में स्मृति एक समान नहीं हो सकती। अतः कथटस्थ साहित्य में विद्वतरण, परिवर्तन, परिवर्तन होता ही रहता है। भारत मानवों की स्मृति का हास किन-किन कारणों से कैसे कैसे होता गया, इसकी अठानी वर्षी मनोरंजक और धारप्रदृक है। जैन प्रन्थों में महान् अथवा साहित्य समय-समय पर किस प्रकार पिलुप्त होता गया इसका अस्तु विवरण मिलता है।

प्राकृत एवं संस्कृत में तो गद्य में प्रधुर साहित्य शाप्त है पर अपन्नांश व उससे निकली हुई भाषाओं का प्राचीन गद्य अधिक नहीं निष्ठा। इसका प्रधान कारण इस्ते हीनता व पद्धति रचना को प्रधानता देता है। स्थतन्त्र गद्य प्रन्थों सो इन भाषाओं में बहुत कम लिखे गये हैं। प्राकृत संस्कृत शादि प्रन्थों को जनता के लिए सुवोध बनाने के लिए उनकी दीकाशी के रूप में गद्य प्रन्थ लिखे गए था पद्धति में प्रसंग वदा कर्ही कुछ गद्य प्राचीन लिखे गये। अन्य प्राचीनीय भाषाओं की भाँति हिन्दी साहित्य के लिए भी यही दाता लागू होती है।

कुछ वर्षों ईर्ष तक तो हिन्दी गद्य के लिए यहाँ तक यारण थी या कहा जाता रहा कि हिन्दी में प्राचीन गद्य ही ही नहीं। पर उर्वों वर्षों शोध होती रही, गद्य रचनाएँ मिलती रहीं और वह पूर्वकालीन मत उनकी प्राप्ति से स्वयं निर्भव होता गया। किंतु भी सुन्दे अब भी लगता है कि हिन्दी का प्राचीन गद्य की असी तक बहुत थोड़ी रचनाओं से ही हम परिचित हैं; क्योंकि प्राचीन साहित्य की शोध का लार्य सबके लिए संभव नहीं। इस क्षार्य में जितना काम करना पहता है आर्थिक दृष्टि से उतना लाभ नहीं मिल सकता। रोप्त पूर्ण पक्ष लेत लिखा जाय तो उसको तैयार

करने में किसने ग्रन्थों का अनुशीलन करना पढ़ा है और किसने लघुत्र समय में यह त्रियार हो पाया है इसका सही अनुभव तो भुज्जभोगियों को ही हो सकता है। आज कल में ऐसा त्रुटि कि हिन्दी की जो पत्र प्रकाशन खेलकों को शोध लेती है, वह किसी बहानी कविता आदि साहित्य रचनाओं के समान या कम ही होता है। अब कि उन रचनाओं में समय पूर्वं भ्रम चढ़ात कम लगता है। प्रसंग यह में उन महानुभावों का ध्यान इस महत्वपूर्ण बात की ओर आकर्षित करता है तथाकि ये शोध पूर्ण लेखों के माध्य उत्तर ध्याय व परिवर्तित नियोगित करने में सुनिचार करें।

शोध की सचित्र दृष्टि मिने अधिकारों को ही होती है हिन्दी साहित्य की शोध यामी तक जो कुछ हुई है उसका विवरण यहूत कुछ अप्रकाशित है। जिसने विवरण ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनका उपयोग भी हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखक करते नहीं नहीं आते। इससे प्राचीन गद्य ग्रन्थों की जागराती यहूत ही कम ही पाई है। परं अप्रकाशित हुए हैं पर भाचीन ग्रन्थ की कोई रचना प्रकाशित हुई अवलोकन में नहीं आई। इसीलिए यामी तक प्राचीन हिन्दी गद्य के संबंध में जैसा चाहिए, प्रकाश नहीं ढाका जा सका। प्राचीन गद्य ग्रन्थों का प्रकाशन तो अब उनना उपयोग प्रतीत नहीं होता, यद्योंकि अनुग्रहित गद्य खबरों से आगे चढ़ रहा है। किंतु भी गद्य की विकास परंपरा का अनुचित अध्ययन करने के लिए प्रत्येक शताब्दी के महत्वपूर्ण गद्य ग्रन्थों से थोड़ा थोड़ा अंश संग्रहीत करने पूर्व रामाह पूर्व शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिए जिसमें गद्य की समस्त शैलियों के उदाहरण संकलित किये जायें।

प्राचीन हिन्दी साहित्य की शोध से हिन्दी गद्य की पूर्व परंपरा संबद्धवीं शताब्दी तक ताजा पहुँची है। दिविया हिन्दी एवं भाजनाया के गद्य की प्रातिरिक्षीय शताब्दी से होती है। सत्रहवीं शताब्दी से ग्रन्थशः गद्य रचनाएँ अधिक संख्या में मिलते जाती हैं। यामी शताब्दी में तो बहुत-से बड़े-बड़े ग्रन्थों के अनुवाद और भाषा व्याकारों के रूप में प्रचुर गद्य मिलता है। बरबाद समक्षाय के घोराली दैर्घ्यन् की वार्ता, दो सौ वायन मैरायन की वार्ता आदि ग्रन्थ सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय वर्षावार्ष की वार्ता के गद्य के उदाहरणार्थ दैर्घ्य है। नीलाहवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती गद्य में गोरखवाणी में प्राप्ताशित गद्य ग्रन्थों का उदाहरण विद्या जाता है, पर वारतव यूं उन रचनाओं की भाषा गोरखनाथ के सदृश्य ही हो ही नहीं। वे ग्रन्थ उनके याम से उत्पन्न नाथ-पंथी प्रधाराकों ने जाताये प्रतीत होते हैं। इनमी हस्तलिखित प्रनियाँ यामी शताब्दी शताब्दी की ही अधिक मिलती हैं। सत्रहवीं से पहले की कोई प्रति जात नहीं है। अतः हिन्दी के पूर्व प्रामतीय रूप का उदाहरण लैगायार्थ जिन प्रम सूरी के लिखित चार नामांग संचाद में मिलता है। यही अब तक संयुक्त प्राचीन हिन्दी गद्य का उदाहरण समझिये जिसका रचनाकाल चीदहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है। यह उदाहरण राजस्थानी पवित्रा में नहीं वर्त पूर्व में प्रकाशित किया था।

भाषा, द्विकार्यां शूर्पं अनुवादों के अतिरिक्त स्थितिगत गद्य रचनाएँ यहूत थेही हैं। किंतु भी सत्रहवीं शताब्दी से ऐसे कुछ ग्रन्थ भी मिलते जाते हैं। कुनुमुदीन की वात, बहलीमों की वात आदि ऐसे ही कुछ ग्रन्थ हैं। इनका प्रकाशन अवश्य होना चाहिए; यद्योंकि ये लोटे लोटे ग्रन्थ हैं और इनके प्राचीन हिन्दी गद्य के स्वरूप के संबंध में अच्छी सामग्री मिल जाती है। कुनुमुदीन की

दात की संघर सोलहवीं शताब्दी की लिखित प्रति वीकानेर की अनूप संस्कृत काव्यशेरी में प्राप्त है।

इन्हीं गद्य के कुछ उदाहरणों में पट्टा-प्रन्थों में प्रसंगवश सम्बन्ध जोड़ने पर्यं विषय को स्पष्ट करने के लिए शुश्राव गद्य भी है। मैथिलो कवि विद्यापति के "कीर्तिलता" ग्रन्थ में मैथिली-गद्य के कुछ उपर्युक्त वर्णने सिल जाते हैं। इससे पूर्ववर्ती वर्णान्वयक गट्टा-ग्रन्थ वर्ण-रत्नाकर में गद्य नाम साथ का ही सन्दर्भित है।

पृथ्वीराज-रासो के लिए भाषा का आदि काव्य माना जाता है। यस्तु भूल रूप में यह गद्य प्राप्त नहीं, पर उन्हें लंग वायु संस्करण जो मैत्र खोज निकाले हैं उनहीं, प्रतिपां सतरहवीं शताब्दी की प्राप्त है। उस गद्य में भी लघुतम संस्करण की संवत् १६६२ में लिखित प्रति संघर्ष प्राचीन है और उसमें स्थान २ पर गद्यांश भी दूसरे संस्करणों से अतिक मिलता है। इसी संस्करण की एक अन्य प्रति संवत् १६६२ की लिखित प्राप्त भी है। उसमें लघुतम अतिशय है। जो मिला है उसे तेवे प्रपत्ते अन्य लेख पृथ्वीराज रासो लघुतम संस्करण में उद्धरित कर दिया है। यह उस संस्करण में याती एवं वचनिका के नाम ते जहाँ भी गद्य मिलता है, उसका पता हमें लाभ निपिन विहारी क्रिवेदी के "चन्द्रवरदाई और उनका काव्य" नामक ग्रन्थ के ४७ २८४-८८ के उल्लेखों से मिल जाता है। रासो के इस संस्करण के सभावक और क्रिवेदी भी चाहीं एवं शब्दनिका के भेद को ठीक से लमझ नहीं पाये, प्रतीत होते हैं। राजस्थानी छन्द ग्रन्थ "रघुतावद्यमक" में इनके भेद को स्पष्ट करते हुए उदाहरण सहित जो क्रिवेदन किया गया है, वह इन विहारों के देखने एवं जाचने में नहीं आया। इसी से तुक मिलने वाले गद्य को वे ठीक पंक्ति रूप में नियोजित नहीं कर सके। इस संवध में "खलना" के सन्दर्भी घंक में प्रकाशित होने वाला मेश लेख "रघुरथानी गद्य कहन्य की परम्परा" शीर्षक देखना चाहिए।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, रासो की लघुतम संस्करण की संवत् १६६७ लिखित प्रति में गद्यांश अधिक मिलता है। प्रत्युत जेल में उन गद्य उदाहरणों को संगृहीत कर प्रकाशित किया जा रहा है। लघु एवं धन्यवान संस्करण के गद्यांश किर कभी प्रकाशित निये जायेंगे।

ब्रज-भारती के संस्करणों ने भाग के गद्य को प्रकाश ने लगाने के लिए ब्रज-भारती का विशेषाभ्युग गद्यांश के रूप में धन्यवान करने का निश्चय किया है। यह बहुत ही उपयोगी एवं अनभव्यक है। उसके लच्चान जानकारी मिलने की पूरी आशा है।

पृथ्वीराज रासो के लघुतम संस्करण का गद्य

वारता—हिंव कलउड का राजा की वात कहड छड़।

वारता—राजा यिद आद, राजा की पटरानी पंवारि चित्रसाली दिखावन लागी,
दिहां वलाही दासी वै गदान कैवास के कच्च सो सो गोप जानियइ। गन
गंधर्य भुवन किन्नर कहत की कैवास हि छह छरमई वेग ही
ऊतरइ।

वारता—अँक वाण तो राजा चूम्हो, वांह तै कांख चिचि आघात भयो, कहमास
पान ढारि दिये।

वार्ता—दूसरउ वाण आत दियउ।

वार्ता—राजा देखतो दाहिमो क्यमास परयो है, देखउ दासी के निमित कैमासहि
अहसिति होइ, भविष्यतु न भिटै।

वार्ता—पांचहु तत्व की देवता हुइ, चांद न गानइ.

वार्ता—राजा महिल आरम्भ नकीब ठोर ठोर प्रारम्भे। सूखा सामंत खोले जीम खानें
टुलीचा प्रवानेन खोले छत्रह पत गीन सिंहासन लीने, गादीभूढ़ा सामंतन
कुं आसन दीने।

वार्ता—कैवास फलभ चांद पासि आइ ठाड़ी रही, देखि चांद नू महावीर वरदायी,
हमार थी राजा पै धस दयाउ, चांद राजा पहिं चलिवे को उद्यम किमउ.
चांद की ल्ली फेट पक्किरी, देखि चंद।

वार्ता—हिव चंद वरदायी कहै।

वार्ता—तब चांद चोल्यउ।

वार्ता—हिव राजा प्रियोराज चांद सू कहतु हइ।

वार्ता—सावत टारियन लागे, कुण-कुण।

वार्ता—राजा प्रियोराज चालतो शकुन होइत हइ।

वार्ता—राजा कुं इह उत्कठा भयी, लांवंतन-की पाक्किली आसा गवी, राजा नै
आइस दीनहो जे ठाकुर पंहुराय प्रगट है ता-की आधीन हुइके रूपे दुराचो.
बाकी कैसा रूप ही साथि श्रावउ। सामंतनु मानिया निसा जुग अबा
रुजनी।

वार्ता—राजाइ मंगा जाइ देखी।

वार्ता—राजा ज्ञान कीथो, सावंत ने स्नान कीयो, तब राजा गंगा को समरु
फरत है।

वार्ता—तब लगि अरनोदय भयो। गंगाद्व भरिवे के निमित्त आनि ठाड़ी भयी,
मानो मुक्ति तीरथ थरु फो तीरथ दोउ संकीरत भये, यों जानियतु है।

वार्ता—ते किसी-अके पनिहारि है?

वार्ता—थवहि नगर देखत है।

वार्ता—चांद राजा के दरबार ठाढो रहयो।

वार्ता—राजा ने पूछयो-दंड आडवरी भेखधारी लु कब्बी द्यारि प्रकार भट्ट प्रवर्त्तु
है, देखो धो जाइ इनमें फो है।

वार्ता—छहै भाखा नो रस चांदु कहतु है।

वार्ता—अब चांद भाट राजा जीचेद को वर्णितु है।

वार्ता—देखो श्रो भवस्यन् दरिद्र को धनु गिरे फिरे चोहान को बोला याकै मुदि
क्यों निकरें।

वार्ता—राजा पूछइ ते चांद उत्तर देत है।

वार्ता—देखे भलो भाट है, जाको लूत-पानि खात है ताको पूरज बोलत है, राजा
मनि चितवत है।

वार्ता—चांद को पान देवे के सांदे राजा डठि घबलभिटा कूँ आइ ।

वार्ता—तो खदास की दासी मुगंधादिक तंबोज्जादिक घनसार मिगमद हेम-संपुट रतनहि जटिल जे चक्की । मुँ कैसी है ।

वार्ता—राजा अनेग हास्य करन लागे, अनेग राजान के मात्र-अपमान सगि अंवर तौ दिनयर अदरसे ।

वार्ता—अहनिसा तो राओ जोग बीबाही लिखो पांगुरहि क्यौं जाती है ।

वार्ता—पात्र-नाम ! दर्पकांगी, नेत थाणी, कुरणी, कोकांगी, कोकिलराणी, मे भागचरनी अंगाल लोज ढोल औक बोल असोल उफ्कांजुली वगासिर नाइ-जयति चिय कामदेव ।

वार्ता—राजा कइसी नींद बिसारि ।

वार्ता—रात्र गते थे, राजा अर्क सो देखियतु है ।

वार्ता—राजा आइसु दियो, ते गीज सोधा चहुधान को भट्ट आयो है, ताहि इतनो दड्यो ।

वार्ता—राजा प्रिथीराज कनबजहि फिरि आबहु हइ, इतने सामतन सूँ पंगु सजा को कटकु सड़ज होइ लरतु है ।

वार्ता—ये तो राजा कूँ लुख प्रापत भय, सावंतत को कुण अवस्था हइ ।

वासो—तउलूँ राजा आव देखइ, जेजो मदोमस्त हस्त होइ ।

वार्ता—राजाफहै - संप्राम विख्यं ली विवजित है ।

वार्ता—राजा प्रिथीराज कोऊ बांधत है, धमरावली छोइ इहीं बांचीइ ।

वार्ता—पहिली सामतसूर भूमि तिनके नांड अरु वरणनु कहतु है ।

वार्ता—ये ते कहे ते सुनिकार दासी आइ ठाठी भइ ।

वार्ता—राजा प्रिथीराज के सेना कहतु है ।

वार्ता—विरदावली किंसी दीन्ही ।

वार्ता—इतनी वात सुणते ततारखां, रुसरगखां, मावलां, विश्वखां, औ चारि खान सदर बजीर आनि खरे होइ अरदास करी ।

वार्ता—तबहि सुरताण हस्या-के ।

वार्ता—उबहि बजीर बहुरे बहुरते अरदास करी ।

वार्ता—हम तमासगीरहा, भाइ थेह जब खाह वसी इसके साहिक्फूँ वासहस्थ राखि गलही कराउ । राजा छोइ रिखाड किल्पो देखयो ।

वार्ता—राजाहे समस्या भाहि आसीयाँ दीन्हउ ।

वार्ता—सुरतान जलालसाह की दोहिलीन फुरमान हइ दिउंगा ।

वार्ता—चांद फुरमाण भांगिवे-कूँ जाइ-गोरी बादसाहि । प्रिथीराज फुरमाण मागइ । तबहि फुरमाण देवे-कूँ बादसाहि हजूर दउ, तब चांद राजा-सूँ कहयो-राजा प्रिथीराज । सधवेश्वर सुरताण खड़मुख फुरमाण देता हइ ।

६१६३६१६

पृष्ठ १८
अंक १८

पृथ्वीराज रासो के बृहद संस्करण के उद्धारक

धी व्याख्यानवाची नाद्या

सभ्ये समय से पृथ्वीराज रासो का रचनाकाल विवाद का विषय बना हुआ है। कई विद्वान इसे प्राचीन सामने हैं और कई विद्वान स. १६०० और १७०० के बीच की रचना। वहाँ तक १६०० के पहिले की प्रति उपलब्ध न हो जाय, इस विवाद का अन्त होता नजर नहीं आता। पर व्यापी तक जो कुछ शोध हुई है उसके अधार से बाहे विलने छोटे रूप में हो पर चन्द्र कथि ने पृथ्वीराज सम्बन्धी पर्वों की रचना की थी, वह निश्चित ना है। प्रबन्ध उग्रह में जो ४ पद उद्द्युत मिले हैं उनमें से तीन का रासो के प्राम सभी स्वान्तरों से शारा जाना और उद्युत ४ पर्वों की भावा, इस कथन की समर्थक है।

पृथ्वीराज रासो के लडुतम, लघु और गम्भीर तीनों संस्करणों की प्रतियाँ स. १५६७ से १२ के बीच को प्राप्त हो चुकी हैं। थोड़े से समय के बीच में ही वारों लपान्तर प्रतिद्वंद्व में अपाये व प्रतियाँ मिलने लगीं इससे भी मूल रासो की रचना की प्राचीनता का समर्थन होता है। १७वीं शताब्दी में रासो में वर्णित कथा बहुत प्रसिद्ध दा खुशी दी, और स. १७०५ में रखे गये जनवत उद्योग में रासो का एक प्रसिद्ध व उल्लेखनीय घट्ट के रूप में निर्देश पाया जाता है।

कुछ वर्षों पूर्व तक रासो के बृहद संस्करण का ही सबको पता था। उसके प्रकाशन का प्रारम्भ ऐश्वर्याटिक दोनाइटी, बगाल से हुआ, पर इसकी ऐतिहासिकता के विवाद हो लेकर प्रकाशन स्थगित हो गया तो प्राचीन प्रचारिणी कथा ने इसको प्रकाशित किया। स्वर्गीय गौरीशक्तिरबी थोड़ा ने पृथ्वीराज रासो का

रासो पृथ्वीराज को तहों बहुत विस्तार।

में दस्तों संबोध ही सकल कथा को साझा॥ ४॥

—(प्रकाशित पृ० ४०)

निर्माणकाल शीर्षक अल्पत महत्वपूर्ण निवन्ध स. १६८८ में कोशीत्त्व सारक संग्रह में प्रकाशित किया। उसमें उन्होंने रासो का रचनाकाल स. १६०० के आसपास का अनुमानित किया था। पर उद्युपुर के २०० भोदीशाल मेनारिका ने अपने दो लेखों एवं “शब्दवाची भाषा और दादित्य” नामक अङ्क में रासो का रचनाकाल स. १७०० के बाद का बतलाया है। आपके मन्तव्य इस प्रकार है— १—कुछ सुनी खुनाई धातों के आवार पर १८ वीं शताब्दी में किसी दूसरे व्यक्ति ने ऐंद के नाम से उसे बनाया है। २—समयतः— इसकी और राजप्रशस्ति की रचना लगभग साय- ही हुई है। राजप्रशस्ति का लिखना स. १७१६ में प्रारम्भ हुआ था और समाप्ति सन् १७३२ में हुई थी। अतएव इसी समय के समानान्तर १। समय पृथ्वीराज रासो का रचना का भी समय है। परन्तु यदि कोई यह कल्पना करे कि राजप्रशस्तिका लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व उसके लिये सामग्री जुटाने का काम शुरू हो गया होगा और समाय है उसी समय राजों का भी भीगणेश हो गया हो तो इस समय को लौन- लौन कर सन् १७०० तक भी ले जाया जा सकता है परन्तु इससे आगे ले जाना इतिहास और अनुभान का गला धोटना है।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि रासो की प्राचीन लिखित प्रतियों से होती है। सम्पूर्ण रासो की नितनी भी हस्तालिखित प्रतियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं वे उप- समय के भाद की हैं। इससे पदले की जो भी प्रतियाँ बतलाई जाती हैं वे सब जाली हैं। सबसे प्राचीन प्रति सन्दर्भ १७६० की है। यह भेदाङ्क के महाराणा अमरसिंह द्वितीय के शासनकाल (स. १७५५—६७) में लिपिमद्द हुई थी।

इसके पश्चात् आपने उस प्रति का पुष्टिका लेख

चीर उपके अन्त में पाये जाने वाले “मिलि पंकज गन उदधि” थीं। “गुन ननिष्ठन रख पोई ।” ये दो प्रतिलिपि उपर्युक्त कथों हुए जिन्हा हैं कि दूसरे उपर्युक्त में “प्रियकोट राज श्रीरेश गुण दिति धीमुख आपसा दयों” शब्दों से अभिभाव दिसौङ के राजा अमरसिंह प्रथम (सं० १६५३—७८) निया गया है। “आपकी राय में वह मिथ्या पारणा है। पर भेनारियाजी के उक्त मन्त्रव्यापारी नहीं हैं। इसी पर ग्रकाश छालते के लिये वह लेप जा रहा है।

आवश्यक गुडते यानीन प्रति सं० १७६० वाली ओही मध्या है। इससे प्राचीन प्रतिलिपि को पे जाली मानते हैं पर उनका यह कथन आनि भावक हो है। जहाँ तक राजे जो आप रुक्तान्तरी के प्रतिलिपि का प्रथम है लगुत्तम रुक्तान्तर की सं० १६६७ और ६७ की लघु की सं० १६७० के कमीच की और मन्त्रम के सं० १६६२ की निवित प्रति दान है ही, पर यह दंसंकरण के लिये ही कहा तया थो तो उसकी भी सं० १७६० से पुर्व यी कड़े प्रतिलिपि भेरे अवलोकन में आई है यथा—भीड़र की प्रति सं० १७३४ की है। “लिखिते शृणि मनोहर श्रीठनोर गद्यं रुक्तं १७३४ त्वयै चैत्र वदि हृदिते ।”

कानोड़ की प्रति सं० १७४६ की है। संदर्भ १७४६ त्वयै मगरिव वदि ७ शुभले दुष्ट नज्जन्मे आगुप माने जाते भीमसु कलणाशदस्तु दाऽ ओ भी ५ धी शोधाजी श्री लक्ष्मा गव्ये। तर्हिण लिखितं रुक्तुशल/तीमरो गलूँड को प्रति का लेखन उपर्युक्त १६६२ तो संटिक्त है पर वह शोधेजी के लिखित है। भिन्नत्वं भीड़र वाली सं० १७३४ की प्रति लिखी है अतः इस प्रति का समय सं० १७३१-३२ माना जाना चाहिए ऐसा लगभगी नरोदभद्राजी का विचार है।

ये तीनों प्रतिलिपि ६५ समय (लंडों) वाली हैं अतः दृढ़ उपर्युक्त की हैं। ४ समय पीछे किर बढ़ाये शेष दृढ़ संकरण के उद्धारक के सम्बन्ध में अभिभाव प्रकाश छालते वाली एक विशेष महारथ्यूर्ण प्रति दिया। विभाग कांक्षेती में है जो सं० १७४६ से ५० में लिखी गई है। इस प्रति में रावसे मदस्वपूर्ण उल्लेख

वृहद् उपर्युक्त के उद्धारक के नाम जगतेश मिलता है। प्रतिलिपि २२६ ए० में वह पथ इस प्रकार है।

गुन भनियमि सर सोह, चन्द विधियन कर दिधी।
चन्द गुनी ते धुरि, माद यदि मिन मिन विधी।
देश देश विलरी, मेलगुन पासन पावे।
उदिम वरि मेलवै, आस विनु आलस आवै।

निय कोटि रान जगतेश त्रिया,
दित श्रमुख आईस दियो।
गुन विनि विनि कदणा उदधि,
लिखि रातो उद्यम वियो।

लभु दीरथ आंदे, अविक, जो यखु अन्वार होइ।
सो कवियन मुख गुद्द तो, फहो आप युधि नोइ॥

इस वद में गुरुशिराद्व ‘अमरेस’ पाठ को जगह ‘जगतेश’ पाठ है। यह भेनारियाजी के सं० १७०० के बाद रचे जाने मत को लिखित करदा है। क्योंकि वे सं० १७३० का लिखित प्रति में अमरेस पाठ देखकर राजो के इस संस्करण के उद्धारक यो पहला अमरसिंह मानता थिया थान्ते हैं पर ‘जगतेश’ पाठ से वह दूसरे अमरसिंह के समय से पहले की वह लिखित प्रति होने ते इस पथ का रचना समय आगे बढ़ जाता है। जगतेश का राज्यकाल सं० १६८४ से १७०६ का है राजनिह इसके बाट नाजा हुये। उसके बाद जगतिह और तथ अमरसिंह दितीय हुए। इससे राजो की रचना, राजवशस्ति के रचना के समय मेनारियाजी मानते हैं वह भी असिद्ध हो जाता है।

यास्तर में तो जगतेश व अमरेश दोनों के समय में राजो का रचनाकाल नहीं माना जाकर वृहद् संस्करण का संकलन उद्दरण लिपि-काल माना जा सकता है और इस संस्करण के उदार या पांचोंको संग्रहीत करवाने वाले कांक्षेती के प्रति के अनुसार महारथ्या जगतसिंह ये। सम्भव है संदर्भ १७६० में जब अमरसिंह के समय वाली प्रति लिखी गई तब उसमें जगतेश के स्थान पर अमरेस पाठ परिवर्तित कर दिया गया हो या अमरेस पाठ माधवीन हो और जगतेश परमार्थी पाठ हो तो अमरसिंह पहला होना चाहिए।

मारतीय साइत्यके भवतीनसे दीपावली पूर्णी उत्सव या प्रातः ज्ञान और चंद्र महावीरके निर्णयके उपराख्यान हो गया, रिक्षित होता है। मदामुखीका भलीकिक प्रमाण मात्र जीवनके उत्तराख्यान में यहाँ ही महत्व पूर्ण स्थान रखता है। उनका धरण होते ही भासीने रिक्षित होती है, उनके मान और और एकजुटतासे भगवान् भए भाषेवाय प्रब्ल रहता है इसलिये ही उनके धीरोग्ने राखनिक दिव्यी भी धारनके तीर्थम् माना जाता है। उनके जनन, दीक्षा, पैदल ज्ञान और मोहकी निरियाँ भी पर्वतमें प्रसिद्ध होती हैं। दीक्षालो पूर्ण भगवान् नहावीरका निर्वाण दिव्यता है। एकजुटी उनकी निरोग भूमि है। इन दोनों धरणों अपना गहन है।

भगवान् नहावीर भ्रमण संकृतिक अप्रमाण्य नेता थे। अतः उनकी निर्विभिन्न सार्वजनिक महान् निलें, यह उचित हो एँ। दीपावलीका त्यौहार भव क्रेस्त्र जीनोंहा नहीं रह गया, यह एक भारतीय त्योहारके स्वर्ण सार्वजनिक उत्साह-वर्षष्ट प्रथा दिन है। इतेवाप्त लेनामन चत्प्रसूत्यमें दीपावलीका प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, इसकी कुछ वृचना निलेतो हैं। उनके भवित्वार आंकिक कृष्ण १५ के दिन रात्रि के उपर भगवान् महावीर बालक जन्मेवाना देख द्युष वापातुरामें निर्वाण पाये। दिन उठा असुख हुए। उस समय बहुतसे वेष्टनियोंके आगमनके अनावश्यकी अन्धेरी रात्रि भी प्रवासनान हो गयी। ३ महायि ३ विश्वलिंगशक्ति १८ गण राजा उत्तर समय चापान महावीरकी धनं देवाना गुरुनेके लिये आवे हुए थे। भाव उद्योगस्य सामान भगवानके निर्वाणातर उन्हेंनि व जनताने रक्षा देष्ट भावदेवे द्रव्य उद्योग किया। तरीके दीरक अक्षरों स्वर दीपावली पर्वंडी उत्पत्ति हुई।

इसी सूत्रमें लिखा है कि निर्वाणके दिन भगवान् महावीरने १५ पुष्य फल किया क और १५ पाप फल विवाहके अन्यदीनोंका प्रदान करके विना कुछ हुये ३६ प्रदर्शके डत्तर उत्तराख्यान संस्कृती प्रकाशन की। उत्तराख्यानके उपराख्यान भावयसे भी इस स्वरूपोंमें होता है। इसके

माये हैं कि इस प्रकार सुमुखोंको कान्य २६ उत्तम भव्यताओंको प्रकट कर जात मुम् भगवान् महावीर परिविवाह पाये। उत्तराख्यान भाव भी इसीका परिपोषक है। उत्तराख्यान भवे प्रवास वा देवता होता है तदनुसार भगवान् महावीरोंके अन्तिम उत्तराख्यान किया, उसके तंत्रह प्रथमको उत्तराख्यान नाम दिया गया। वास्तवमें इस सूत्रको इन जीवों यह सहते हैं। इसमें उत्तराख्यानके अनिरिक्षित विधायें एवं उत्तराख्यान भी शुभ हैं। जैमर्याहा गर्म १५ प्रत्येक लिये यह उत्तराख्यान भवोंकी उपराख्यान उत्तराख्यान का है। अंगदेविका, वैशाखवर्षेक पूर्व त्रिपोषक सूक्ष्मीका यह भवित्वा है। अल्प-सूक्ष्म अनिरिक्षित सभी जैनगमनमें इस सूत्र पर रचित टीकायें अधिक परिवाजमें प्राप्त होती हैं। इस रथके अनेक उमायिल धीरोंके प्रधान भवं व्रथ भम्पद और सूक्ष्मनिर्वाणमें उत्तराख्यान का साधारण परिवर्तनके दाय पाये जाते हैं। राजनक्षत्राती सम्प्रदाय के प्रत्येकान आशावृत्त भास्त्रारवर्षके अनुदित उत्तराख्यान सूत्रके रोक्तारयकी भूमिका इस सम्प्रदायमें हास्य है। भाषा विशानके प्रकांड वंडित और इतन अस्त्रीयी जाहि यास्त्रपत्रमें विद्वानेके नवाजुलार इस सूत्रमें भावा भी प्राप्तीनकाली दृष्टिसे भवारान सूक्ष्मशंखके रक्षयात तीव्ररे नम्यर ने अस्ती है। इन सब जीवों पर विभार फलेवे उत्तराख्यान सूत्रका महत्व जीवी भावित विदित हो जाता है। इस सूत्रके मृत्यु, संटीक्ष, दिन्वी व गुजाराती अनुशाश आदि कई संस्कृत लिङ्ग लुके हैं, जिनमें योगालदाता वर्णन दृष्टिका एवं संतवालभीका गुजराती अनुशाश प्रदृश अवलोक और खस्ता है। राजनक्षत्राती नवाजुलार द्विन्दी रक्षान भी राजावधारी जीव कामों, वर्षहेतु प्रकाशन द्वारा पुकारा है। पाठ्योंके अनुशोध हैं कि वे उत्तर अवश्य लाभ उठायें। प्रदृशुन उत्तरमें उत्तराख्यानके भोजेवे सुमायिन नस्तुनेक तीरं परं प्रकाशित वित्त जा रहे हैं। उन्हें भगवान् नवाजीले दीपावलीके दिन ही वार्षी हारा प्रकाशित किये। इसीलिये उन्हें दीपावलीका दिव्य संवेद्य कहा जा रखता है। इस सूत्रमें ४ जातें यही दुर्लभतावे प्राप्त

चत्तारि परसंसाणि,
तुल्लहाणीह जन्मुणो ।

मणुसंचं सुर्द सदा
संजर्मसि य वीरियं ॥१॥

प्रापादे—संसारमें जीवको मनुष्यत्व, सदामें भरत, उत्तर धरा और तदनुपार आचार, ये चार व्यक्तियाँ भवती होनी इसी दुर्लभ हैं। इन चारोंमें भी उत्तरोत्तर एक दूसरे से अधिक दुर्लभ हैं।

संजीवनके दुर्लभ जन्मये जन्मत्वे पापाद भी शुभ है। जैमर्याहा गर्म १५ प्रत्येक लिये यह उत्तराख्यान भवोंकी उपराख्यान उत्तराख्यान का है। अंगदेविका, वैशाखवर्षेक पूर्व त्रिपोषक सूक्ष्मीका यह भवित्वा है। अल्प-सूक्ष्म अनिरिक्षित सभी जैनगमनमें इस सूत्र पर रचित टीकायें अधिक परिवाजमें प्राप्त होती हैं। उनमें से जीवायें ही यहाँ देता हूँ।

दुमपत्तये पष्टुयए जहा,
नियड़ रामगणाण अल्पय ।

एवं मण्याण जीवियं,
समय गोयम ! भा पमायए ॥१०-१
इह इत्तरियन्मि आउए,

ओवियए चहुपञ्चवायए
विषुणाहि रथे पुरे कड़,

समय गोयममा पमायए ॥१०-३

भाराय—यमय आये पर पक्षा हुआ दुर्लभ वसा। जिस प्रकार भवानक अपने आप नीये गिर जाता है ऐसे ही मनुष्यता जीवन भी एकाएक नष्ट हो जाता है। इसलिये हे जीवम्। समय मात्र भी प्रमाद न कर।

यह जीवन वक्षा ही अद्वा व यित्तोसे मरहू ह अतः द्वे गौतम ! उमय भाव भी प्रमाद व वस्ते हुये वृत्त अमीषो नष्ट द्वर्जनेसे उत्तरा कर।

असंख्यं जीविय सा पमायए,

जरोवणीयस्तु न नरिय ताणं ।
एवं विजाणाहि जगे पमरो,

किण्णु विहिसा अजया गहन्ति ॥४-१॥

आवाय—द्वा दुमा जीवन फिर जुः नहीं सज्जा। भत्तेण सु एक समय माप भी प्रमाद न कर। दृद्धवस्थामें जीवे धारण भूत न होगा। प्रकाशी और हिंसा अविवेकी किंतुको धारणमें लायेगे।

सुरेसु यावी पदिवुद जीवी,
न बोससे पंडिए आसुपन्ने
पोए महत्वा लद्दल मारी।

माधव—इसलिये खुसीमें जागृत बुद्धि-
भाव और विवेकी साधक क्षणभंगुर जीवनका
विकास नहीं कर सकत वक्तीकी तरह
धृपत्व विवरता है।
संसार में सो कुण्डे।

जो समग्रे कुण्डे थरं
जात्येव गन्तुमिच्छेऽत्मा,

नृत्य कुवेज सासंय ॥४-२५

माधव—जहाँ हमेशा के लिये इसमें
नहीं, परे रास्तेमें पर बनानेवाला मूर्ख ही
कहा जायगा, विवेकी तो जहाँ उबंदा रहदा
है, वही पर चरता है। योहे से समयके
लिये प्राप्त मनुष्य जन्मको प्रमाणाद्यरथे
अपने महुँ सो ! मोहके लिये प्रकाश कर।
जसत्यि सञ्ज्ञुपा सक्तं,

जसस बड़िथि पलायण।

जो ज्ञाने न भरिस्तामि,

सो ह कंखे सुए सिया ॥ १४-२७।

माधव—जिसकी झल्के राथमें मैत्री
हो, याने जो उससे बच सकता हो, जिसके
पर निकल जो कि मैं मरनेवाला नहीं हूँ,
वही वह नियार कर सकता है कि यदि
क्षमता से कठ फर लूँगा। अन्यथा जब जीवन
का पछ मरका भरोड़ा नहीं, तो कठ करनेका
है वह आज ही कर ले और जो आज
करनेका है वह अब ही कर ले। यदी पियेक
ही जिसानी है।

उस जापनेमें जातिशब्द का लड़ा लोर
था। इसलिये नगवानने आद्यात्र औन दै
अमग जौन है, तपसी जौन है, इस विषयमें
अपने विवार बहुत स्पष्टतासे प्रकाशित
किये हैं। इन जीतोंका सम्मन्य बाहरी
वातावरि नहीं, आनंदिक तुगोंहै है। इसी
पर जोर दिया गया है:

न विसुग्दिपण समणोः
न ओंकारेण बम्भणोः।

न मुणी रणगचारेणः

कृत्सन्नीरेण न तावसोः।
समयाए समणो होइः

बम्भन्नेरेण बम्भणोः।
नाणेण य मुणी होइः

त्वेण होइ तावसोः।
कृम्मुणा बम्भणो होइः

कृम्मुणा होइ खलियो।
वृद्धसो कृम्मुणा होइः

सुरो इवहि कृम्मुणा।
३५-३६, ३७, ३८।

माधव—केवल मरत युंग लेनेहे ही
कोई अनण नहीं होता। गाथ औंकार बाप्ते
ही आद्यात्र, भरणयशासे मुनि और दामके
वर्षोंही तापत नहीं हो जाता। पर समताए
अभ्यन, ब्रह्मवर्षों ब्राह्मण, जलहे ही मुनी
और तपतवर्षासे तापत होता है।

युग्म अपने फसंसे ही ब्राह्मण, वैश्य
क्षत्रिय एवं शूद्र होता है। जातिसे ही
नहीं।

तृष्ण अनन्त और मनुष्यका जीवन
क्षण भगुर है। इसलिये तृष्णकी पूति होना
गमय नहीं। इस वात्मको निम्नोक्त गाथामें
वहे सन्दर दृष्टे कहा है—

कसिणं पि जो इमं लोये,
पद्मिपुण्यं दलेज्ज दक्षस्त।

तेगावि से न लंतुस्ते,
इह दुप्पूरप इमे आया ॥ १६।

माधव—विष्व पदावेसे भरे हुए
सन्त विक्रमो भी यदि कोई किसीको देरे
तो भी तृष्णा पूरी भवी होती, सदा दुर्घृति
है। कहा भी है।

इच्छाउआगा ससमा अपंतिया।

इच्छा आकाशके समान अनन्त है।
इसका क्यन कहा ?

इस सूत्रने जो अनुपम आप्यात्मिक
उपदेश लिलते हैं वे आत्मोदारके लिये
चहुत ही उपयोगी हैं। उदादरणके नीर पर
कुछ पव्य निचे दिये जा रहे हैं।

जो सद्वसं सद्वसाणं,

संगमे दुज्जाए जिए।

एतं जिणेङ्ग अप्याणं,

एस से परमो जाथो ॥४-३४
अप्याण भेव जुझकाहि।

कि ते जुझकेण वज्जसो।

अप्याण मेवमप्याणं,

जाइता सुह मेहए ॥६, ३५।

मर्यात्—दुर्जय संप्राप्तमें लग्नों
योद्धाओंको जापने की अपेक्षा अकेले अपनी
आत्माको जापने करके विजय पाना अधिक
उत्तम है।

अपने ही विकारोंसे लग्नों। बाहर—
अन्योंसे लड़नेहे यदा । अपनी आत्मशक्ति
से रुदरों पर विजय पानेसे ही प्राप्ति हुखी
होता है। आत्माकी विजय ही सर्वेषां
विजय है।

अप्यासेवक्षये यव्वो,

अप्याहु खलु, इहमो।

अप्यावन्तासुही होइ।

अस्मिं लोप परत्य च ॥ १-१५

माधव—अपनी आत्माका ही अमन

करना चाहिये। क्योंकि यही दुर्घृति है।

आत्म अमनहे ही इस लोक तथा परलोक
द्वारोंमें उखड़ी प्राप्ति होती है।

वरंमे अप्यावंतो,

संजमेण तवेण य।

माह परेहि दम्पतो,

धरणेहि वदेहि य ॥ १-१६।

माधव—दूसरोंको वध-य-धनः आदिसे

दमन करनेकी अपेक्षा हय और संयमे अपनी

आत्माका अमन करना ही उत्तम है।

पंचिनिद्याणि कीहं,

माण माण तहेव लोहं च।

दुखजयं चेव अप्याणं,

सब्य अप्ये जिए जिथं ॥ ६-३६।

माधव—पौध इन्द्रिया—क्षोप्त, वाम,

माया और लोम तथा सबसे दुर्जय अपना

मन इनको जिसने जीत लिया, उसने सबको

जीत लिया।

अपनी आत्मा ही अपना शत्रु वही

अपना गिर है। इस आत्मों बहुत ही

स्वरूप शब्दोंमें बोलने किया है: जिसे

मनुष्यका आत्मोत्थान और पतन अपने

हाथमें ही है, इसकी वही अन्तर्की कुदी

पिल जाती है: पराप्रितता और भावावी

भौत ही सुखिये।

अप्या नहै वेयरणी,

अप्या मे कूहसामली।

अप्या कामदुहा धेण,

अप्या मे नन्दपां वृण।

अप्या कृत्ता विकृत्ताय,

तुद्वाण्य सुहाण्य य।

अप्या मित्रममित्तं च,

दुपष्ठिय सुपष्ठिको ॥ २०—३६, ३७।

माधव—आत्मा ही बृतरणी नहीं और

कृष्ट सामलियुक्तके समान दुखदायी है और

वही कामयेतु और जन्मत बनके समान

सुखदायी है।

यह आत्मा ही सुखों और दुखोंका

कसाँ और भोक्ता है। यही अपना मित्र

और शत्रु है। शुभार्गपर बलनेहे क्षित्र और

कृपयामी दूसरेसे आत्मा ही अपना शक्तु है।

[शेष पुस्तक ४४-४५ में]



श्री अगरचन्द्र नाहदा

दोपावलीका दिव्य संदेश

अन्तमें मोक्षका भाग बतलाते हुये मोह
आदिके त्याग और ज्ञानादि गुणोंका विकास
करनेडा संदेश दिया गया है।

ज्ञानस्स सव्वस्स पगासणाए,

अन्नाणं मोहस्स विवज्जनाए ।

रामस्स दोसस्स य संखएणं,

एगंतसोक्ष्वं समुवेह मोक्षं ॥

तस्सेस मग्गोगुरुविद्वसेवा,

विवज्जना बाल जणस्स दूरा ।

सज्जकायएगंत निसेवणा य,

सुत्तथ संचितणया धिई य । ३२-३३ ।

भावार्थ—सब प्रकारके ज्ञानको निर्मल
बनाने व प्रकाशित करनेसे, अज्ञान एवं
मोहको विनाश कर सागदेशको क्षय करनेसे
एकांतिक सुखस्थान मोक्ष प्राप्त होता है।

सदगुर व ज्ञानशृङ्खु पुरुषोंकी सेवा,
अज्ञानीके संगसे निवृत्ति, एकाप्रचित्तसे
सतशास्त्रका अभ्यास, उसके अर्थका चिन्तन,
चित्तकी स्थिरता एवं भैरव्यसे ही मोक्ष प्राप्त
होता है।



उपर्युक्त उपदेशोंमें साम्प्रदायिकताका
नाम गन्ध नहीं। ये उपदेश सार्वजनिक
हैं। जो इनके अनुसर अपने जीवनको
बनायें वे जाहे किसी देश जाति व
सम्प्रदायके हों आध्यात्मिक उन्नतिमें अग्रसर
होंगे।

दोपावलीका यह दिव्य संदेश हर
प्राणीकी आत्माको आलोकित और उज्ज्वल
बनाये नव वर्षकी यही शुभकांक्षा है।

पद्ममंदिर-रचित बालावबोध प्रवचन- सार का नहीं, प्रवचनसारोद्धार का है

श्री अगरचन्द जाहटा

पाठ्यनाय विद्यालय द्वारा 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग ४ प्रकाशित हुआ है उसके पृ० १५१ में प्रवचनसार (कुन्द-कुन्दरचित) के बालावबोध का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि 'पद्ममंदिर गणि ने भी वि० सं० १६५१ में एक बालावबोध लिखा है।' इसी अन्य के पृ० १७३ में प्रवचनसारोद्धार (नेमिपन्दसुरि-रचित) के बालावबोध का उल्लेख करते हुए लिखा गया है कि 'पद्ममंदिर गणि ने इसपर एक बालावबोध लिखा है जिसकी हस्तलिखित प्रति वि० सं० १६५१ की लिखी मिलती है।' इस तरह पद्ममंदिर के एक ही बालावबोध को दो अलग-अलग रचनाओं में वर्ताया गया है पर यास्तव में यह ठीक नहीं है। पद्ममंदिर का बालाव-बोध कुन्द-कुन्द के प्रवचनसार का नहीं पर नेमिपन्द के प्रवचनसारोद्धार का ही है।

जैन गुरुंर कथितो भाग तीव्र पृ० १५६७ में इसका उल्लेख किया गया था। उसकी प्रति शीरामेर के जिनरत्नसूरि ज्ञानभंडार में होने का उल्लेख किया गया है। बीकानेर के अन्य ज्ञानभंडारों में भी इसकी प्रतियाँ हैं। इष बालावबोध की रचना रं० १६५१ में हुई है। स्व० हरि दामोदर वेलवकर ने अपने जिनरत्नकोश में गतती से इसे प्रवचनसार का बालाव-बोध बतला दिया और प्रवचनसारोद्धार का भी। संभव है जिनरत्नकोश के बाषार ते ही प्रो० हीरालाल कामड़िया ने जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा० ४ में इस गतती से दुर्लभ देखी गई है और इसकी अन्तिम प्रशस्ति यही प्रकाशित की जारही है जिससे उचिता की परम्परा भी भर्ती-प्राप्ति किए द्यो जायगी। इस बालावबोध का परिसार १२००० रुपोक का है। खरतर-

गच्छ के बाचायें युगप्रवान जिनचन्द्रसूरि और युवराज जिनसिंहसूरि जी के समय में इसकी रचना सागरचन्द्रसूरि-शासा के पद्ममंदिर गणि ने की है। इसके लिखने और संशोधन में गणि कलकाटा अमेरिजल जोर रिणमल्ल ने सहायता की थी और शाह हसीर की मन्त्रयंता से यह लिखा गया है। जाने दी जाने वाली प्रशस्ति से ये सब वाले भली-माँति स्पष्ट हो जायेंगी। पद्ममंदिर की अत्य रचनाओं में गणधरसारशतक-लघुदृति सं० १६४६ जैसलमेर प्रकाशित हो चुकी है और पाश्वेदशभव-वालावबोध प्रति जैसलमेर ज्ञान-भंडार में है। ए 'प्रबचनसारोद्धार' नंदउ, अं सबं समृद्धि पासउ। बहु-षष्ठे साधु-साध्वी वावक श्राविका तीए भणी, तउ उपलक्षण हुंती भणावी तउ चीत वीतउ संभलावी तउ। इति गाथार्थः-

हिंवड प्रशस्ति लिखीयड घड—

(१) अर्जु विनिहित दोषः तत्तं भव्य धज वारि जात छुत बोधः ।
 गोत्रिः सकल पदार्थं प्रकटविता जयति वीर रविः ॥ १ ॥
 गोतम् सुधर्मं मुख्या प्रस्था आसन् गणाचिया भूणिनः ।
 तत्क्रमवर्ती धी जिनचन्द्र इचंद्रति युगपवरः ॥ २ ॥
 तस्मिन् गणये विजयिनि दिल्लीनाथं प्रबोधनपरिष्टे ।
 श्रीमती जिनसिंहाभिष, सूरि वरे जयति युवराज्ये ॥ ३ ॥
 श्रीगंसागरचन्द्र सूरप इति रुपाता क्षितो धीघनाः,
 पञ्चानां परमेष्ठि नामिहये प्राप्ता स्तुपे पदे !
 दत्तं श्री जिनभद्र सूरि तुगुरोः सूरेः पदं यैर भूतेषां शुद्ध
 गुणात्मये विजयिनो व्यक्ताइ गें जजिरे ॥ ४ ॥
 श्री महिमराज सुदयो दया दयातागरा वरा विदुषां ।
 श्री जाममंदिरात्मस्त्रयोप्यमौ वाचकवत्सा ॥ ५ ॥
 श्री देव देवतिलकोपाध्यायाभ्यकवत्तिनो ज्ञातां ।
 तच्छिष्यानूवानाः श्रीमतो विजयराजाह्नाः ॥ ६ ॥
 वाचंपमजन निकरे कोटीर समाः तमागमार्थंजाः
 तच्छिष्य पद्ममंदिर गणि रवं-प्रदीपगिर्म ॥ ७ ॥
 वालावबोध भक्तोद विवुष धीघाय तिज कविद्वद्यर्थं ।
 यद तु श्री किचित्तज्ज्ञः, शोध्यं धूणावदिसः ॥ ८ ॥

जीव द्वारा प्रीति की प्राप्ति का उपाय प्रतीकों के माध्यम से समझाया गया है। मोक्ष-मार्ग की ओर लगातर होने में जीव को छिन-छिन वायाओं का सामना करना पड़ता है, इसका भी विशद विवेचन इस रचना में है। (केवि) ने मंसुलाचरणादि की परिणामी के बाद कथा प्रारम्भ की है। यहाँ उदाहरणार्थ कथा के प्रारम्भिक अंग को प्रस्तुत किया जा रहा है : ‘मयनगर नामक पट्टन के दाना महारथज अपने गहामन्त्री मोह और रति-प्रीति नामक दोनों पहियों के लाय सभाभवन में बैठे थे। वहाँ शल्य, कर्म, मिथ्यात्व, दोष, आश्रव, विषय व औध, सोभ, रौद्र व आत्म, यद, मात्र, सप्तभय व व्यसन आदि वस्तुओं दोढ़ा विराजमान थे। इस प्रकार बसंत नराभियों तथा तीनों लोकों के प्रभुओं से सेव्यमान महारथज गरज रहा था।’ इस प्रकार कथाओं में जितने भी नाम हैं वे साधना के साधक और साधक रूप के प्रतीक हैं। अतः कथा जो प्रतीकात्मक होना स्वतः प्रमाणित है।



* वही, मूल २० २.

(पृष्ठ २१ का लेख)

सुगुण गणि कनकसारो, मेहुञ्जल साधु सधुरिणमल्ली ।

लिखन सुखोधन कर्मधे, ते सहा कत्तरिः ॥ १ ॥

पिष्म पदार्थः पूर्व सह हमीरो परोषतम्भके ।

तत् ए तहि समश्रोभ्यर्थं या लेखि साम्बोनां ॥ २० ॥

वर्षे शशि वाण रसा त्रिदाम्जमाने सहः ।

सिते पद्मे लङ्घी धरे दारे, गुरो व पुष्पी कृतो व्रंद ॥ २१ ॥

संवत् १७४५ वर्षे मगसिर मासे कृष्ण पक्षे अष्टमी तिदो ग्लीवारे, भट्टा एक दुग्धपात श्री जिनचंद्रसूरि विजय राज्ये आसार्य श्री ज्ञानरचन्द्र सूरि शास्यादि शिष्य उपाध्याय श्री दयारत्न गणि तत् शिष्य वा, शिवदेव नगि तत् शिष्य वा० श्री सहजकोठि गणि तत् शिष्य श्रो राजचंद्रगणि तत् शिष्य वाचक राजश्री वयनिधान गणि तत् शिष्य श्री कमलसिंहगणि तत् शिष्य वा० कमलरत्न गणि लिखितं तत् शिष्य पं० दानचंद्र मुनि तत् शिष्य पं० दानविष्णु वाष्पनार्य चि० भूधर, गोष्ठेन सहितेन श्री छोटुडाकोट्टे चतुर्मासी कृता तद लिखिता ।

(इति श्री प्रदयनसारोदार वालाखबोध संपूर्णं समाप्तं)

पूर्व कालीन औसत्वाल ग्रन्थकार

(श्री अग्रवाल नाथा दीदारे)

‘ओसिवाल नवयुवक’ के सम्मेलाङ्क (दिसम्बर सन् १९२८) में ‘पूर्वकालीन ओसत्वाल ग्रन्थकार’ शीर्षक देश एक निवारण प्रकाशित हुआ है। वह लेख उक्त विशेषाङ्क के लिये बहुत गोचरण से लिखा गया था अतः कई विविधों के विषयमें विशेष अनुसन्धान न हो सका था। इस लेख द्वारा कुछ नया शास्त्रीय प्रकाशित किया जाता है।

उत्तमचंद्रजी भंडारी जोधपुर नरेश मानसिंहजी के मुत्सवी और राजा भीमसिंहजी के दीवान थे। आपका जन्म सन् १८३३ और स्वर्गयास सं० १८५४ में हुआ था। इनके उचित अन्य कई प्रन्थों का उल्लेख नापारी प्रचारणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित ‘इस्तलिलित हिन्दी गुरुसंको का संक्षिप्त विवरण भाग ८’ (सन् १८०० से १८११ तक को रिसर्च रिपोर्टों से संकलित) के पृ० १४ में इस प्रकार मिलता है:—

(१) नाथ चंद्रिका (जहेंदर नाथ गुण बर्णन)	देशो २३ प० ८
(२) नाथ चंद्रिका	" "
(३) रतना इमीर की यात	" "
(४) नीति श्री चात	" "
(५) मानसिंह अंतर्लीपिका, जोधपुर लाइब्रेरी	नं० ५६-३६

नाथ चंद्रिका ग्रन्थ से आपके नाथ संग्रहालय के भवन हीने की सूचना मिलती है, पर महाराजा मानसिंह नाथ संग्रहालय के पूर्ण नक्का थे, अतः नाथ चंद्रिका नाम स्तुति रचनेमें राजकीय कारण भी रहा हो, यह सम्भव है। विशेष तो आपके सारे प्रन्थों के अवलोकन करने पर ही छिपा जा सकता है।

भंडारी उदयचंद्र:—इनके अन्य निश्चोक्त प्रन्थों का पता लगता है:—

- (१) नाथ स्तुति, जोधपुर लाइब्रेरी नं० ५६७
- (२) आत्मसार १० अध्याय सं० १८८० लि० प्रति जोधपुर, लाइब्रेरी नं० ४२५
(इसमें महाराजा मानसिंह का भी गुण बर्णन है)

(३) भक्त प्रवोध : नाथ स्तुतिमाय ; मानसिंहजी के समयमें रचित, सं० १८७१ डिसेंबर, प्रति नं० १७१-१२२ जोधपुर लाइब्रेरी।

नं० २-३ प्रन्थों का कर्ता म्युजियम लाइब्रेरी सूचीपत्रमें केवल उदयचंद्र लिखा है। उदयचंद्र नाम के एक यतिजी के भी मानसिंह प्रशस्ति आदि प्रन्थ उक्त सूचीमें हैं पर सुके उपरोक्त नं० २-३ के प्रन्थ भंडारी उदयचंद्र कृत ही होना विशेष सम्भव प्रतीत होता है। पूरा निश्चय एवं विशेष परिचय तो प्रति निरीक्षण के पश्चात ही हो सकता है।

जोधपुर के ओसत्वाल सज्जनों भी चाहिये कि इस लेखमें उल्लेखित चारों भंडारी प्रन्थकारों और उनके प्रन्थों के सम्बन्ध विशेष परिचय प्रयत्न करें। एवं अन्य भी किसी ओसत्वाल प्रन्थकारों का जिन जिन की पता लगे खोज कर प्रयत्न करें। आशा है ओसत्वाल समाज अपने पूर्वकालीन प्रन्थकारों के प्रन्थों का अन्वेषण कर उनके नीतिन चरित्र सहित सम्पादित कर सीम प्रयत्न करने का प्रयत्न करेगा।

ओसत्वाल दूरजस्तराय:—आपके देशज लाला गुरुद्वा० गल फन्नालाल देश, जस्तर (लाहौर) जिवानी ते आपके रचित ‘देवाधिदेव चना’ नामक प्रन्थ भोई० सन् १८१५ में प० श्री लाल जैन द्वारा हिन्दी भाषादे लिखा कर प्रकाशित किया है। उसके बत्तव्यम् आपका परिचय इस प्रकार दिया गया है।

पंचाल (पंजाब) देश के लाहौर शहर के समीप गुरुपुर (कस्मूर) नगरमें आपका जन्म हुआ। आपके बंशज ओसत्वाल जातिमें खांयों गोत्र के थे। उस समय गुरुपुरसे शास्ति न थी। आप केवल भाषा के ही ज्ञान न थे। गांधी जैन संस्कृत भाषा तथा प्राकृत में (२८) जली भाषि थी। इस भाषा को बतलानेवालों उक्त दोनों भाषाओं की कविताएँ हैं। (भाषामें आपके बताये तीन प्रन्थ—१ साधु गुण रथ आरम्भ, २ देवाधिदेव रचना,

सके ? आज भी जब हमारी माताएँ और वहने साधुत्व प्रहल करती हैं तब पर्दे का परिवार कर देती है। कवा कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि ये सतियाँ पर्दे का अधिकार करने से सीधे नाट कर चैठी हैं ? तो जब सतियाँ को अपना सबोन्ह कानम रखने और उसे भी भी निम्न बनाते हैं पर्दा न करने से कोई वाया नहीं पहुँचती तो हमारी अन्य माताओं और वहनों को सतीरव यों पायाम रखनेमें खुले सुंह रहना क्योंकर कायदेमंद न होना ?

अपनीजिये 'लघा' को। लघा का अर्थ होता है अपने से वहों का आदर करना, लघा के माने मुँह को ढक लेना करने नहीं क्षी सकता। यदि हम लघा के माने मुँह रखना या मुँह छिपाना तो तो लघा शब्द के अन्दर बुराव की दू आ जातो है। विनय और आदर मुँह ढकने कभी प्रदर्शित नहीं हो सकता। जो आदमी तुरा फास करता है उसे समाज के सामने आने की हिमात नहीं होनी और वह मुँह छिपाता फिरता है। यह मनुष्य, समाज में गुड़ छिपा कर समाज का आदर कर रहा है। मग्ना जो कहों नहीं यह लकड़ा फिर हमारी माताओं का रहनों के ने यथा अपराध लिया है निष्ठा लिये नहीं गुड़ ढकने की आपराधिता है। यदि हम अपने वहों आदर करें, उनकी सेवा करें तो इसमें हमारा विनय और सुशीलता जाहिर होती है, यदि मेरी समझमें विनकुल नहीं आता। यदि लोग जियों के पर्दे करने से ही वहों का आदर समझते हैं तो फिर मनुष्यों को भी पर्दे परना आवश्यक शोषा ! वहों का आदर करना स्त्री समाज तक ही तो सीमित नहीं है। हम मनुष्य सी तो अपने से वहों का आदर करते हैं। फिर हम गमुण्य पर्दे ज्यों नहीं करते ? बेचारी स्त्री जब रुग्न लेती है तब पर्दे के साथ जन्म नहीं लता, जरनु इस धुरप जाति अपनी सत्ता को आवश्यक करने के किंतु असंतुष्ट होते हैं। और नह फ्रां योंदे हमारे पूरे पुरुषों की बुनाई हुड़े नहीं है, यह ही मुसल्भातों के साथ ही हिन्दुस्तानों आई थी। ऐसे पुरुषों से मेरा सतलग इस योस पीछियों पहले से नहीं, यस्ति उन लोगों से है जिन्होंने सबसे पहले समाज का निर्माण किया है।

मुत्तलमान लोग स्त्रीं को गाय, भेंस की तरह एक यह याल समझते थे। जिस तरह ते लोग भेड़ वजहियों को बोए कर रहते हैं उसी तरह ये लोग स्त्रीयों को रखते हैं। कौन अफिका के मुसलमान आज भी स्त्रीयों को एक तरह का माल (property) समझते हैं और जिस तरह

से हम लोग बाजार से गाय भेंस खरोद करते हैं, उसी तरह से वे लोग स्त्रीयों भोल रहते हैं। यही जाति हमारे देशमें आई तो सारे उत्तरी भारतमें पर्दे का प्लेग फैला दिया। उनके नुक्के को तो हमने नहीं अपनाया, लेकिन उसी नुक्के को बुंधट के हपमें अपना लिया। जोधपुर की हिन्दू स्त्रियों तो नाट्र जै चारों तरफ से ढक कर ले जाई हैं, यह नुक्के का दी रुपान्वर है।

स्ट्रीबाद के पश्चाती जरा इन बातों पर गौर करें और सशब्द के हित और अद्वित का ध्यान दखें। स्ट्री-बाद की प्रचण्ड अभियां समाज के हितों को न मोक्ष दें। सामाजिक नियंत्रण समाज के हर अंग के हित को देखते हुए ऐसा जाहिये। हमें अपनी लड़ियों को धर्मान्वयता की दृष्टि से नहीं बल्कि समाज के हित की दृष्टि से देखना चाहिये।

इस पर्दा प्रथा ने जितना गहरा आवात हमारे समाज पर लिया है उसको हम कुछ ही लाइनमें व्यक्त नहीं कर सकते हैं। हमारी समाज के गिरे हुए स्वास्थ्य का यह सबसे बड़ा कारण है। फिसी भी समाज का अच्छा या उग्र ज्ञान इस समाज की माताओं पर निभेर होता है। जिस समाज की स्त्रियों घर की चहार दीवारी के बाहर नहीं निश्चल सफल और बाहर की जीवनदायिनी बायु, प्रकाश और प्रकृति का सेवन नहीं कर सकती, उस समाज की स्त्रियों का स्वास्थ्य कैसे ठोक रह सकता है। फिर ऐसी कमज़ोर और धूप मण्डूक माताओं की सन्तान भी कमज़ोर और धूप मण्डूक यथों न होगी ?

हम पुरुषों ने स्त्रियों से स्त्रियों पर सज्जा कायम रखी है और उसको गुलामी का पाठ जब अच्छा पढ़ाया है; इसलिये हमारे अत्याचारों से दक्षी हुई फ़मज़ोर नारी जाई हमारी हो में हां मिला दे और पर्देमें रहना ही पसंद करे लेकिन आप उसकी आत्मा से पूछिये तो आप को पता जाएगा कि वह हमारे बन्द घरों के बाहर प्रकाश, मेदान की स्वच्छ बायु और प्रकृति का सेवन करने के लिये मन ही मन कितनी तड़पती रहती है। बन्द घाड़ियोंमें जानेवाली हमारी भद्रानसीन वहनों की आत्मा से पूछिये कि वे गाड़ी के छोटे से छोटे छिठोंमें से बाहर का दृष्टि देखने के लिये कितनी तड़पती हैं। मैं पर्दा प्रथा के पश्चाती सज्जनों से फ़हूँगा कि वे लोग कुछ रोज़ पर्दे के अन्दर रह कर पर्दे का मज़ा लड़ें और फिर कहें कि पर्दा करना नहीं अच्छी प्रथा है।

प्रामारे समाज के युवकोंने ज्या कहै वहे लोगों ने इस प्रथा को हटाने की कोशीश की है, लेकिन वे सफल नहीं हो सके। इसका कारण यह था कि इसकी (शेर १३ वे शृङ्ख पर देखिये।)

वही की सुनियम थ लाइनरों के इस्तिखिल प्रत्यों के सूची-
पथ के अबलोकन का सुखवशर मिला उसमें निशोक छुतियों
य क्षियों (ओसवाल) का नाम पता लगा:-

४ पीरचन्द्र भंडारी—ताधस्तुति पत्र ५ तं० ६५८२८२
(२० ईद्रव छंद १ दोहा १ सोरठा है)

५ हजारीमल भंडारी—नायक छक्षण (नायक के १६
छक्षण सविस्तृत) महाराज मानसिंह जी के समर (आभ्रय)
में सूचित पत्रि तं० ३६३६।

६ भागचन्द्रजी ओसवाल—इसाराह के लक्षकरमें
आकर निशोक मन्त्र यनाएः—

१ ज्ञान सूर्योदय नाटक वचनिका—सं० १६०० भाद्रवा
सुदि ७ गुरुवार

२ दपदेश सिद्धान्त रवसाला वचनिका—सं० १६१२
आषाढ़ वदी २

३ अभिवर्गति आवकाचार वचनिका—सं० १६१२
आषाढ़ शुदी ११

४ प्रभाण परीक्षा वचनिका—सं० १६१२ भासोज वदी १३

५ नेमिनाथ पुराण वचनिका—सं० (१६...) आवन
वदी ५ सोमवार

६ महावीरान्त्र (१०)

७ शिवर महाराज पत्रा—सूचित य भावा यस
द पद बीनसि भावा।

(१३ वें उल्टा का शेषांश्)

अलग अलग कोशीश तहीं संतानि न्य से भरी एक
भी कोशीश नहीं हुई। सबहों पट्टा नक्षीन निर्वाणमें एक
यिना परे को स्वी की जो अठिन दशा होती है उसको
हम वही आसानी से समझ सकते हैं। अन्तमें उस त्रेचारों
अबेली स्त्री को पीछे पेर देन ही पढ़ते हैं। इसलिए हमफो
इस प्राण को दृष्टान्त दी है तो एक संगठित आनंदोलन
शुरू करने की ज़रूरत है। इसलिए वे अपनी
समाज के युवर्षी में कहुंगा कि वे लोग अपने २ रात्रों
पहले दिनों जैसा वास्तविक जल्दी कर और इन आनंदो-
लन की देश ज्यादी रूप दे तो हमारी यह वही भवत
उठकन वही आसानी और जल्दी से ही सुलझ सकती है।

नोट—॥१॥ यह परिचय पं० फैलाशावन्तजी शास्त्री ने दिग्मवत् प्रत्यों की शाचीन सूचियों को देखकर सूचित किया है।

आयुर्विक जवाहरात तथा साने के गहने चांदी के पर्सव आर्दि के
लिये हमारे यहां पद्धारिये, इसमें आपको फायदा होगा। हम आपको लेखा
के लिये हर काम तैयार हैं।

पार्वती शाहूर मित्र

मैतेजिंग द्वायरेकर

फैलाश मुफ्त मंगाइये।

साने के गहने गिरवी रखकर बहुत ही उम व्याज पर हमारे यहां
रखया रुपण मिलता है।

सिद्ध मुखजीर्णी कम्पनी,

वंकसे एण्ड ज्वेलर्स

टेलोफोन—साउथ १२७८
फैलाशाम 'मैटालाइट'

२५, भाषुतोप मुखजीर्णी रोड,
भवानीपुर, कलकत्ता।



‘ओसवाल’ में विज्ञापन देकर
लाभ उठाइये

पूर्व देश के जैन मंदिर

श्री भंवर लाल नाहटा

भगवान् महावीर की जन्म एवं निर्वाण भूमि-विहार प्रांत, जैन समाज के लिये तीर्थ-भूमि है। इसी विहार प्रांत से संज्ञगत बंगाल है, जहाँ भगवान् महावीर ने विचरण किया था। उनसे पूर्व-यतों तीर्थकरों ने भी इस भूमि में अपना धर्म प्रचार किया, जिससे हैवारों वर्षों तक जैनधर्म को ही बंगाल के मुख्य धर्म होने का गौरव प्राप्त था। लीमाओं का परिवर्तन समय समय पर होता ही रहता है। बंगाल, बिहार, उडीसा में लाखों की संख्या में रहने वाली पराक्रमाति ने पूर्णतया निरामिय भोजी रहकर आपनी प्राचीन जैन संस्कृति को अनुएषण रखा है। बिछली शताविंशीयों में इधर जैन-धर्म का प्रचार न रहने से वर्तमान जैन समाज के पूर्वजों ने अपने स्वधर्मियों को भुला दिया था। पर कुछ वर्ष पूर्व ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने सरकारी गजेटियरों के आधार पर बंगाल विहार, उडीसा के जैन स्मारक प्रन्थ लिखकर जेनों का इस और धान खाकपित किया, जिससे कतिपय स्थानों से जैन-धर्म के सम्बन्ध का पता लगा है। उनका यहाँ संचेप में कुछ परिचय करना अभीष्ट है।

बंगाल के सुधसिंह वर्द्धमान नगर का नाम करण विद्वानों के मतानुसार चरमतीर्थकर भगवान् महावीर वर्द्धमान के नाम से भी सम्बन्धित है। यहाँ आज भी कल्पसूत्रादि जैनागमों में उल्लिखित चमवंश के बहु संख्यक लोग निवास करते हैं। वर्द्धमान जिले के आठ उपान प्राम में दो समाधि स्थानों के बीच भगवान् शार्तिनाथ की कृष्ण पाषाण की मुख्य प्रतिमा प्राप्त हुई थी। जो अभी कलकत्ते की बड़ी साहित्य परिषद में सुरक्षित है। यह मूर्ति २३।"×१४" की है, प्रभु के भस्तक पर छत्र और उसमें पन में देवदुन्दुभियुक्त देव-देवियाँ एवं चमर दोरते हुए इन्द्रों की मूर्तियाँ भी हैं। गत वर्ष में मारी के पास खत देवलियों में प्राचीन जैन मंदिरों से तीर्थकरों की प्रतिमाएं प्राप्त होने और उन्हें

आशुतोष म्युजियम में लाकर रखने के समाचार देखे गए हैं। इससे विदित होता है कि कुछ शताविंशीयों पूर्व तक वर्द्धमान जिले में जैनवर्म का अन्तर्गत प्रचार था। बढ़ मान का पढ़ोमी वीरभूमि जिले में सराक जाति निवास करती ही है। और कई स्थानों से जैन प्रतिमाओं का प्राप्त होना वीरभूमि वर्णन नामक प्रन्थ में पाया जाता है।

बांकुड़ा से १ मील दूरिके श्वर तट नदी के बट पर बहुलारा नामक स्थान में एक जैन मन्दिर का उल्लेख कनिघम साहब ने अपने सर्वे की दर्शी रिपोर्ट में किया है। इस जिले के अन्य स्थानों में भी प्रचुर परिमाण में जैन प्रतिमाएं तालाब मन्दिर आदि पाई जाती हैं। जिन की खोज होना परमावश्यक है। अभी छः सास पूर्व पुरुषिया जिले के तालाजुड़ी गाँव में जमाँ के तालाब के तिकट ऊपरभूमि देव प्रभु की तीन कुट ऊँची मतोहर मृति निकली है जिसका दर्शन तत्रिकटवर्ती महालकीक प्राम निवासी भाई श्री जयहरि पराक के साथ जाकर इमने स्वयं किया है।

मिदनापर जिले का ताम्लुक ही प्राचीन ताम्लिमि नगरी है, जिसका वर्णन जैन कथा साहित्य में पाया जाता है। वृद्ध नेमिदत्त के आराधना कथा कोश में यहाँ एक जिनें भक्त आवक के रहने का उल्लेख है, जिसके चैत्यालय में रत्नमयी पार्श्वनाथ प्रतिमा थी।

हुगली जिले के चिन्सुरा में एक जैन मन्दिर है। जिसमें कतिपय प्राचीन जैन प्रतिमाएं विराजमान हैं। राजागृही के शिलालेखों से विदित होता है कि यहाँ १६वीं शताविंशी में ओसवाल माणिकचंद गाँधी निवास करते थे। जि होने सन् १८२६ में रत्नगिरि के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और सं० १८२३ में उदयगिरि का प्रसादोद्धार करवा कर अभिनवन सुमतिनाथ और पार्श्वनाथ के चरणापादु का प्रतिष्ठित करवाये थे। कलकत्ता से १० मील हुगली नदी के

श्रीधरस्त्रेताः पीठे यज्ञो विद्युता एव त्रिपाति तिर्तु विद्युते विद्युते

१८२ ज्योतिष्ठान विद्युते विद्युते विद्युते विद्युते विद्युते विद्युते

‘प्राणप्रिय काव्य’ का रचनाकाल,

श्लोक-संख्या और सम्प्रदाय

●
अगरचंद नाहटा

जैन स्तोत्रों में ‘भक्तामर स्तोत्र’ प्राचीन और अत्यंत महत्वपूर्ण है। उसे सभी संप्रदाय वाले मान्य करते हैं, यद्यपि उसकी गाथाओं-श्लोकों को लेकर मत-भेद हैं। प्राचीन श्वेताम्बर मान्यतानुसार मूलतः उसके ४४ श्लोक ही थे। दिगंबर मान्यतानुसार ४८ श्लोक हैं। मैंने अनेक ताडपत्रीय प्रतियों और अन्य प्रमाणों के आधार से ४४ श्लोक होने की पुष्टि की है डॉ ज्योतिप्रसाद जी आदि ने ४८ श्लोक होने की पुष्टि की है। इस संबंध में एक बात बहुत ही विचारणीय है कि मूल में यदि ४८ श्लोक ही होते तो जो ४ श्लोक जो ४ अतिशयों के वर्णन वाले श्वेताम्बर परम्परा में मान्य नहीं हैं, वे दिगंबर मान्यता में तो कम-से-कम एक ही प्रकार के होते। फिर वे ४ श्लोक अनेक प्रकार के क्यों मिलते हैं? इससे यह सिद्ध होता है कि पहले दिगंबर सम्प्रदाय में भी ४४ ही मान्य होंगे, नहीं तो अलग-अलग प्रकार के ४ श्लोक रचे जाने की आवश्यकता ही नहीं होती। डॉ ज्योतिप्रसाद ने भी लिखा है कि “भक्तामर की कतिपय प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में ४-४ श्लोकों के ‘चार’ विभिन्न गुच्छक, प्रचलित ४८ श्लोकों से अतिरिक्त प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार उनमें से प्रत्येक पाठ ५२ श्लोकी है, और कुल प्राप्त श्लोकों की संख्या ६४ हो जाती है। वे सभी श्लोक तो मानतुंगरचित् नहीं हो सकते, कालान्तर में विभिन्न लोगों ने गढ़कर सम्मिलित कर दिये हैं।” ख़ेर इस सम्बन्ध में मैं और कभी लिखूँगा।

भक्तामर की पाद-पूर्ति काव्यों की सौजन्य करके मैंने श्रमण में लेख प्रकाशित किया था, उसका उल्लेख करते हुए डॉ ज्योतिप्रसाद

जी ने लिखा है "भक्तामर की पादपूर्ति या समस्यापूर्ति के रूप में ही संस्कृत में लगभग २०-२५ काव्य रचे गये, इनमें सिंह-संघ के मुनि धर्मसिंह के शिष्य मुनि रत्नसिंह का 'प्राणप्रिय काव्य' अति सुन्दर है। यह ४८ श्लोकी काव्य १२-१३वीं शताब्दी में रचा गया प्रतीत होता है, यह 'नैमि भक्तामर' भी कहलाता है (देखें—भक्तामर रहस्य में डा० ज्योतिप्रसाद जी का लिखा हुआ 'आविर्भाव', पृ० ३८)।

इस प्राणप्रिय काव्य के संबंध में विशेष खोज करने के लिए मैंने इसलिए प्रयत्न किया कि पहले तो १२-१३वीं शताब्दी में भक्तामर का कोई भी पादपूर्ति काव्य नहीं रचा गया। १७वीं से ही मिलते हैं। दूसरा, 'धर्मसिंह' और 'रत्नसिंह' जैसे नाम भी दिगंबर परम्परा के नहीं लगते। श्वेताम्बर-परम्परा के लोकाभाच्छ आदि में ऐसे और कई नाम मिलते हैं। 'प्राणप्रिय काव्य' का प्रकाशित संस्करण मेरे संग्रह में है, वह स्व० नाथूराम प्रेमी द्वारा अनुदित और श्री जैन प्रथरत्नकार्यालय द्वारा सन् १९११ में प्रकाशित संस्करण है जिसे ७० वर्ष हो गये हैं। उसमें ४९ श्लोक छपे हैं जिनमें ४८ श्लोक भक्तामर के चतुर्थ पाद-पूर्ति रूप में और १ वर्षी श्लोक प्रशस्ति रूप में हैं। उस श्लोक में कर्ता का नाम सूचित करनेवाला श्लोक इस प्रकार है—

श्री सिंहसंबुद्धिनेत्रक धर्मसिंह,
पादार्दिवदमधुलीन मुनि रत्नसिंहः
भक्तामर स्तुति चतुर्थ पदं गृहीत्वा,
श्री नैमि वर्णतमिदं विदधे वावित्वम् ॥४९॥

धनुवादक नाथूराम जी प्रेमी ने इस संस्करण के अपने 'निवेदन' में लिखा है कि "विगत् वर्ष जब यह सुन्दर काव्य 'जैन-हितैषी' द्वारा प्रकाशित हुआ, तब काव्य-प्रेमी महाराजों ने इसे बहुत पसंद किया, और हमसे प्रेरणा की कि इसे जुदा पुस्तकाकार में प्रकाशित करना चाहिए। तदनुसार आज यह पृथक् रूप में प्रकाशित होता है। इस काव्य का मूल पाठ हमको बसवा, जिला जयपुर निवासी पं० सुन्दरलाल जी से प्राप्त हुआ था।

पं० सुन्दरलाल जी ने इसकी हस्तप्रति कव की लिखी हुई ? कहा प्राप्त हुई ? यह उल्लेख नहीं किया। मैंने इसकी हस्तलिखित प्रति

की खोज की और बड़ोदा सप्टेल लाइब्रेरी से हस्तालिखित प्रतिग्रंथि प्राप्त करके देखा तो उस प्रति में ४५ श्लोक ही लिखे हुए हैं, ४९ नहीं ? और प्रशस्ति में जो 'सिह-संघ' शब्द है उसके स्थान पर 'संघहर्ष' पाठ मिला और वही उपयुक्त लगता है, क्योंकि आगे सुविनेय धर्मसिंह का नाम आया है, अर्थात् धर्मसिंह संघहर्ष के शिष्य थे। सिह-संघ नाम का कोई संघ है भी नहीं और उसका शिष्य धर्मसिंह जानने में नहीं आया। अतः स्पष्ट है कि यह काव्य ४५ श्लोकों का ही है। दिगंबर मान्यतानुसार ४ श्लोक और प्रशस्ति जोड़ कर इसे ४९ श्लोकों का और दिगंबर मान्य बना दिया है। जिनरत्न कोष के अनुसार इस काव्य का अन्य प्रशाशन खुरदी से वी० नि० लं० २४४२ में हुआ है, पर वह संस्करण अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। मेरी राय से यह काव्य श्वे० मुनि श्री धर्मसिंह के द्वारा १८वीं शती में रचित ही है। ◎

प्राण-प्रिय काव्य के रचयिता व रचनाकाल

श्री अगरचन्द नाहटा

सुप्रसिद्ध भक्तामरस्तोत्र की चतुर्थ पाद-पूर्ति रुद्र अनेकों रचनाओं में प्राण-प्रियकाव्य भी एक है। उसके रचयिता मुनि रत्नसिंह हैं। अब से ६२ वर्ष पूर्व स्व० गाथूरामजी प्रेमी ने इधे जैनहितीषी में प्रकाशित किया था और उसके १ वर्ष बाद उसे स्वतंत्र पुस्तिका के स्पृ में सन् १६१२ में श्री जैनग्रन्थ रत्नाकर कायलिय, वम्बर्द से यह गानुवाद प्रकाशित हुआ था। स्व० प्रेमी जी ने इस काव्य के सम्बन्ध में अपने जैन साहित्य और इतिहास नामक ग्रन्थ के द्वि० संस्करण के पृ० ४१३ में 'जैन हितैषी' से रत्नसिंह सम्बन्धी उद्देश्यप्रकाशित किया है। उसमें इस काव्य एवं रचयिता सम्बन्धी लिखा छोड़ा गया है—

पह छोठा सा खेड़काव्य बहा ही सुदर और प्रसादगुणपूर्ण है। मान्महेर
तुंग ने भक्तामरस्तोत्र के नीथे चरणों की समस्तापूर्ति के ल्यां में इसकी
रचना की गई है—

श्री सिहस्रं शुभिनेदक—धर्मसिंह—पादार्दिदमयुलिङ् मुनि रत्नसिंहः।
भक्तामर स्तुति चतुर्व पदं शृहीत्वा श्री नेमिदर्णनमिदं दिदधे कवित्ये ॥

धर्मसिंहसंघ के प्रनुशासी धर्मसिंह के चरण कमलों में भगवन के समान अनुरक्त मुनि रत्नसिंह ने पह नेमिदर्णन भगवान् का वर्णन करनेपाता काल्प धगाया।

सिहस्रंघ की कोई पढ़ावली शब्दी तक उपलब्ध नहीं है जिससे मुनि रत्नसिंह के सम्पादि का कुछ पता लगाया जा सके। इनकी और कोई रचना नी प्राप्त नहीं है। वरदा (जयपुर) के स्व० पंडित सुंदरज्ञान जी को यह

काव्य फेंठस्व था । एक बार जब वे वंवर्दि आये थे, तब उन्होंने मुझे लिखा दिया था, और तभी मैंने इसका हिंदी प्रनुवाद करके मूल के सहित प्रकाशित भी कर दिया था ।

इसमें भक्तामर के ४८ पदों को समस्या पूर्ति की गई है इसलिए यह स्पष्ट है कि इसके कर्ता दिगम्बर संप्रदाय के हैं और सिहूसंघ भी हसी संप्रदाय का है । दिगम्बर संप्रदाय में भक्तामरत्सोऽन् के ४८ पद गाने जाते हैं और श्वेताम्बर संप्रदाय में ४४ ।

इसका प्रारंभिक पद 'प्राणप्रियं नृगुहुता' आदि से शुरू होता है, इसलिए यह 'प्राणप्रियकाव्य' नाम से प्रसिद्ध है । इस काव्य के बानी के तौर पर तिर्फ दो अतिशय सरस पद दिये जाते हैं—तत्क्षिप्त बदामि रजनी समये समेत्य, चंद्राशयो मम तनुं परितः सृशांति । दूरे थे तत्त्व दिभो परदार शक्तान्, कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टुग ॥१४॥ पूर्व मया सह विवाह कुते समागाः, गुकि स्त्रिमात्तवग्नुना च समुद्यतोऽन्ति । चेत्यक्षमं तव भनोऽपि यमूवहा तत्, कि मंदाराद्विशिष्ठरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

मैंने इस काव्य के रचयिता को लोंकागच्छीय व रचनाकाल १६वीं शताब्दी होना लिखा था । उसके रास्तव्य में डा० ज्योति प्रसाद जैन ने 'जैन-संदेश' शोबांक २४ के पृष्ठ २१६ में 'प्राणप्रिय' काव्य के रचनाकाल और रचयिता के संबंध में लिखा है कि तिहान्य के मुनि घर्मसिंह के शिष्य मुनि रत्नसिंह का प्राणप्रिय काव्य जो ४८ श्लोकों का पादपूर्तिरूप है, उसे १८वीं शती की रचना और उसके रचयिता रत्नसिंह को लोंकागच्छीय सानु मानने का नाहटा जी के पास क्या आघार है, यह उन्होंने कहीं सुचित नहीं किया है । हमारा अनुमान है कि पाहुड़ दोहा के कर्ता मुनि रामसिंह, जिनका समय नाहटा जी भी १६वीं शताब्दी का मव्य स्वीकार करते हैं, को ही परंपरा में उपर्युक्त घर्मसिंह और रत्नसिंह हैं । यिहान्य दिगम्बर आनन्द का ही एक संघ था और १२ वीं-१३ वीं शती के बाद उसका कोई उल्लेख देखने में नहीं आया । यतः संभावना है कि मुनि रत्नसिंह और उनका प्राणप्रिय काव्य १२वीं या १३वीं शती के हों ।

ऐसा लगता है कि इसके रचयिता कोई श्वेताम्बर विद्वान् ही हैं । यदि ऐसा है तो एवेताम्बर परंपरा में भी ४८ श्लोकी दाठ के प्रचलित रहने का तर्गतान होता है ।

‘प्राणप्रिय’ कव्य की हस्तलिखित प्रतियों की भीने खोज की तो जिनरल-कोप के पृष्ठ २७६ में इसकी एक मात्र प्रति बड़ोदा सेंट्रल लाइब्रेरी में (नं० १२३८१) होने का उल्लेख मिला । उस प्रति को २० हाये सर्च करके बड़ोदा से भीने इसीलिए मंगर्याई कि इस काव्य में भक्तामर पादवृति के श्लोह कितने हैं ? और सिहान्वय संवंधी पाठ वश है ? क्योंकि श्रेमी जी एवं ज्योति प्रसाद जी ने सिहस्रंघ का गान करके ही सारी चर्चा की है ।

बड़ोदा की प्रति मंगने पर जात दृष्टा कि वास्तव में प्राणप्रिय काव्य में ४५ श्लोक ही हैं जिनमें से ४४ श्लोक तो भक्तामर के चतुर्वर्षाद की पूर्ति स्थि हैं और ४५वें श्लोक में गंयकार ने अपने गुरु आदि का उल्लेख किया है । अतः श्रेमी जी ने जो ४८ श्लोक छपवाये हैं वे पंचित सुन्दरलालजी को कंठस्थ ये और उन्होंने उन्हें लिखवाये थे, उसी के प्रधार से आए हैं । उनको कोई हस्तलिखित प्रति नहीं मिली जी । अतः इस काव्य में दिगम्बर परंपरा के अनुमार ४८ श्लोकों की पादवृति नहीं है, यह हस्तलिखित प्रति से सिद्ध हो जाता है । यद्यपि बड़ोदा की प्रति ग्रंथिक पुरानो नहीं है अपेक्षित पाटण के भंडार से नकल की गई है अतः श्वेतांबर भंडार में इनको रखने की विद्युति है प्रति ही पाटण में होगी । यह तक अन्य कोई प्राचीन प्रति नहीं शीक्षण्याप्त तथा तक बड़ोदा की प्रति को ही मान्य रखना होगा । जस्क सूर्य भंडार, इमोइल में इसको एक प्रति है पर यह अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी ।

रचयिता के सिहान्वय के होने की बात भी इस प्रति से नज़र दिख देती है । यद्योंकि इसके अंतिम श्लोक में श्री निहस्रंघ के स्थान पर ‘श्री संघर्ष’ पाठ हस्तलिखित प्रति में है इसलिए दिगम्बर परंपरा के सिहान्वय की बात तो अपने आप रामात हो जाती है । श्रीर तब डा० ज्योति प्रसाद जैन के अनुमान का जो कोई आधार नहीं रह जाता अतः रचयिता १२वीं-१३वीं शताब्दी के नहीं हो सकते और वे दिगम्बर सिहान्वयों भी नहीं थे । हस्तलिखित प्रति के अनुसार श्री संघर्ष के शिष्य घर्मसिंह और उनके शिष्य मुनि-रत्नसिंह इस काव्य के रचयिता थे । घर्मसिंह और रत्नसिंह दोनों नामवाले विद्वान् १७वीं-१८ वीं शताब्दी में लोकागम्बद्ध में हुए हैं अतः मैंने जो लिखा था वही सही है । डा० ज्योति प्रसाद जी ने जो उस पर टिप्पणी लिखी थी कि रचयिता को १८वीं शती का और लोकागम्बद्ध का दर्शाने का नाहटा जी के पास यह आधार है, वह आधार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है ।

जिनरत्नकोष में प्राणप्रिय काव्य के बीर सं० २४४२ छुरई से प्रकाशित संस्करण का उल्लेख है। वह मुझे प्रात नहीं हो सका पर बड़ौदा की हस्त-लिखित प्रति ये यह निश्चित हो जाता है कि रचयिता दिगम्बर सिहान्वयी और १२ वीं-१३वीं शताब्दी के नहीं ये और न इस काव्य में दिगम्बर आन्नाय के अनुसार भक्तामर के ४८ श्लोकों की ही कवि ने पादपूर्ति की है। धर्मसिंह और रत्नसिंह श्वेतांबर ही ये और इस काव्य में ४४ श्लोकों की पादपूर्ति ही की गई है। 'श्री संघर्ष मुविनेयक धर्मसिंह' इस पाठ से संघर्ष के शिष्य धर्मसिंह थे यही तिद्ध होता है, 'सिहसंघ' पाठ ही नहीं है अतः अन्य बातें स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं।

भक्तामर की प्राचीनतम १२-१३ शताब्दी की ताड़पर्वीय प्रतियो एवं प्राचीनतम टीका खण्डलगच्छीय शांतिमूरि रचित भक्तामर टीकादि से यह निश्चित है कि श्वेतो गान्धी भक्तामर के मूल श्लोक ४४ ही ये। दि० संप्रदाय में ४८ श्लोकों की परंपरा कव से है यह अन्वेषणीय है। मुझे ४४ पा ४८ श्लोकों का कोई ब्राह्मण नहीं है। केवल खोज की, उसका जो परिणाम गेरे सामने आया, उसी पर प्रकाश ढाला गया है।

भक्तामर के पादपूर्तिरूप जो अप्रकाशित स्तोत्र मेरे पास है उन्हें प्रकाशनार्थ पं० पश्चालात् जैन साहित्याचार्य को भेजे हैं।



भगवान् महावीर के शासन का एक वोधक एवं प्रेरणादायी-

०- पृष्ठ-प्रसंग -०

लेखक:- अगरचंद नाहटा

भगवान् महावीर ने कठोर साधना द्वारा घातिया कमों का नाश कर केवल प्राप्त किया और धर्मोपदेश देकर चतुर्विधि संघ की स्थापना की तभी से ८० महावीर का धर्मशासन प्रवर्तित हुआ कहा जाता है। इससे पूर्व ८० पार्वनाथ का शालन चल रहा था। जिनके प्रचारक अनेक मुनि एवं आर्यिकाएँ ८० महावीर के समय में विचार रही थीं। उनके अनेक प्रसंग श्वेताम्बर जैनाममों में वर्णित है। उन सब में उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्याय में ८० पार्वनाथ के श्रमण केशी एवं ८० महावीर के प्रधान शिष्य गीतम के मिलन, वार्तालाप एवं एकीकरण की घटना की तीव्र है। वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण पृष्ठ-प्रसंग है। वर्तमान जैन समाज के लिए वह सबसे अधिक वोध-प्रद एवं अनुकरणीय होने से उसे जैन संघ के सम्मुख पुनः विचार करने के लिए उपस्थित किया जा रहा है। आशा है समाज इससे प्रेरणा पाकर एवं गंभीरता से मननकर लाभान्वित होगी।

भ. महावीरको विद्यमानता की ही बात है। मुनि कल्याण विजय जी के संसोधनानुसार प्रभुवीर के कंदल्य प्राप्ति के १५ वर्ष बाद याने गृहत्याग के २७ वें वर्ष में भगवान् महावीर कीशल भूमि में विचरते हुए परिथम की ओर धीरे धीरे आगे बढ़ रहे थे। उस समय प्रभु के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रमूति गीतम श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक चेत्य शिष्य परिवार सहित जाकर ठहरे ८० पार्वनाथ के शिष्य संतति के श्रमण तीन श्रावधारक केशीकुमार इससे पूर्व ही उसी नगरी के विन्दु को घान में पघारे हुए थे।

दोनों धर्मनेताओं के शिष्य गोचरी के लिए नगरी में पंधरीरैपैर लक्ष्य एक ही होने पर भी एक दूसरे के बेज़ एवं साथ क्रियाओं में भिन्नता नजर आई, इससे उनके मनमें विचार हुआ कि यह विनाश क्यों ? यव अपने शिष्यों के इस तर्फेह को गौतमस्वामी ने जाना तो वे इसका समाधान करने के लिए पूर्ववर्ती उपेष्ठ तीर्थकर भगवान पाद्मनाथ के श्रमण होने से बड़े समझकर जट्ठा केशी श्रमण ठहरे हुए थे वहाँ पधारे। उनकी आते देख केशीकुमार को बड़ा हृष्ट हुआ और बड़े आदर सत्कार के साथ उन्हें आसन पर बिठाया। सूर्य एवं चन्द्र सहित दोनों आचार्यों के मिलन की बात चारों ओर फैली तो हजारों नागरिक एवं देवादि उनके पारस्परिक बातालापे सुनने को उत्सुक बहाँ इकट्ठा हो गये। आ० केशीकुमार ने प्रश्न ऐच्छने की स्वीकृति लेकर गौतमस्वामी से प्रश्न किया कि हे मुते, भगवान पाद्मनाथ ने चार महाप्रत रूप धर्म कहा और भगवान महावीर ने पंचमहावत रूप धर्म वतलाया सो समान मूक्तिमार्ग के साधकों के धर्मसार्ग में इस प्रकार की विभिन्नता क्यों ? आचार्य गौतम ने उत्तर में कहा कि धर्म तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है इसलिए जिस समय में जैसी बुद्धि वाले मनुष्य हों उस समय उनकी बुद्धि के अनकूल धर्म का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थकर के समय के मनुष्य सरल एवं जड़बुद्धिवाले थे उनके लिये आचार मार्ग का शुह रखना कठिन था और अन्तिम तीर्थकर के समय में मनुष्य कुटिल बुद्धिवाले हैं उनके लिए शुद्ध आचार पालन कठिन है। इसलिये इनके शासन में पंच महावत रूप धर्म कल्पित किया गया। तब मध्यवर्ती २२ तीर्थकरों के समय के मनुष्य सरल एवं न्तुर होते हैं, वे घोड़े में ही अधिक समझ लेते हैं और शुद्ध आचार पाल सकते हैं। अतः तीर्थकरों ने चार महावीर रूप धर्म का उपदेश दिया।

इस उत्तर से जन्मोष पाकर केशीकुमार ने गौतमस्वामी की बुद्धि की प्रशंसा करते हुए कहा इस जंका क्या तो पूर्णतः समाधान हो गया पर म. पाद्मनाथ ने स चेल (सवस्वसाधु) धर्म यतलाया और

लोप हो जायेगी फिर बाह्य वस्त्र रखिए या नान रखिये कुछ भी उस से करके पढ़ने वाला नहीं है।

दोनों संप्रदायों का एकत्रिकरण तो खँयर अभी संभव नहीं नजर आता, पर कटुता तो समाप्त हो दी जानी चाहिए। हमारे इन तीर्थों के ज्ञानों ने हमारी वृत्तिक की बड़ी वरचादी की है। उनको तो अब दोनों संप्रदायवालों को साथ में बैठकर निपटा ही लेना चाहिए। वास्तव में स्थान, तीर्थ या पूर्णि किसी की तारनी नहीं, अपनी बातमा की निर्मलता से ही उद्धार होता है। वर्तमान में जिन स्थानों को तीर्थ भाना जाता है वे सभी स्थान मन कल्पित स्थापना तीर्थ हैं। कोन निष्ठय पूर्वक कह सकता है कि उन स्थानों में ही निर्वाण अद्विकल्पित हुए हैं, तिल त्रूप इवर द्विर नहीं। बहुत से स्थानों का तो ठीक से पता भी नहीं, कोई उसे कहीं बताते हैं और कोई कहीं अन्यथा ही। वास्तव में बहुत से स्थान घूल से दिये गये थे। पीछे से किसी ने अनुमान से वही मन्दिर आदि बनाकर तीर्थों की स्थापना कर दी है। ऐसी स्थिति में एक मंदिर या मूर्ति किसी संप्रदाय के अधिकार में है तो दूसरे को उसके लिए झगड़े न कर, वह उसके पास में ही बनाकर शांति के साथ—कीरतरागता की उपासना करे। जिसने रूपये तीर्थों के ज्ञानों में खर्च होते हैं उनसे बहुत कम में नये भव्य भंडीरों का निर्माण हो सकता है। प्राचीन हानि से ही उरामें अधिक महत्व नहीं हो जाता। महत्व तो हमारे भावों पर निर्भर है। यह ठीक है कि हमारे में संस्कार वश प्राचीन वस्तुओं के प्रति सहज रूप अधिक आकर्षण पाया जाता है पर ज्ञानों से लाभ तो दूर रहा, हानि ही हानि नजर आती है। मुर्ति का महत्व अविर हमारे हृदय की श्रद्धा और भक्ति पर ही तो निर्भर है। जहाँ भावों पर कृठारा घात होता हो उससे तो नये मंदिर और नयी मूर्ति का निर्माणकर हमारे भावों की विषुद्धि अधिकाधिक हो यही प्रयत्न करना चाहिए। एक ही मंदिर की मूर्ति का दोनों अपने नियत सम्पर्क पर विधिवत् पूजन करते रहे वह सर्वोत्तम ही ही।

श्वेताम्बर, दिग्म्बर ही क्यों एक-एक संप्रदाय में भी छोटी-छोटी बातों को लेकर जो अनेक इगड़े पनप रहे हैं हमें उनके निवारण करने के लिए तत्त्व की गहराई तक पहुँचना ही होगा। आपके और हमारे वस्त्र दो प्रकार के होते हैं। चाला और आकृति आदि में अन्तर होता ही है पर मनुष्यता के नाते हम इन बाहरी बातों पर ध्यान न देकर एक दूसरे के विचारों का सामंजस्य बीनमें का प्रयत्न करते हो हैं। भगवान् महात्मीर की जयती के शुभ प्रतंग से इस केशी और गांतम के एकीकरण के आदर्श को संमुख रखते हुए हमें परस्पर में प्रेममाद बढ़ाना ही आवश्यक है। जिस प्रकार उन्होंने भूल वस्तु को ध्यान में रखकर बाहरी विचारों की तमाज़ कर दिया उसी प्रकार हमें भी तत्त्व हिंडि एवं अनेकान्त और उदार भावना के द्वारा इन ऐश्वर्य-मात्राओं को भूला देना है। जगत्तिव्यों से कलह और कटूता का परिणाम हम देख चुके हैं इनके कारण हमारी शक्ति का कितना दुरुपयोग हुआ, इसके हम भूल गोगी हैं। ठोकर ऊकर भी जो मनुष्य चेतना नहीं उसी के लिए हम जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं वही शब्द हमारे लिए सद्य लाग हो जाती है।

हस सब जीनों के आदर्श एक है। पूज्य व धाराध्य एक है, तात्त्विक ज्ञान में भी कोई अन्तर नहीं है, सभी की पात्यता है कि राग द्वेष, कषाय से दुष्कर्मी का बन्धन होता है और बीतरागता-समझाद के द्वारा मोक्ष मिलता है फिर हम दुष्कर्मी को छोड़कर मोक्ष में विचरण करने के लिए राग द्वेष कम करने में प्रयत्नशील यथोनहीं होते ? इस प्रतंग से हमें-बीतरागता को ही अपना आदर्श मानकर प्रेम माद की दृढ़ि करना है।

लट पर कोनगर में एक कुट ऊँची भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त हुई थी जो अभी कलकत्ता न्यूज़ियम से प्रदर्शित है।

खुलमा और जसौर जिले में निष्ठन्थ साधुओं विद्वार का उल्लेख हुपन्साँग नामक चीनी यात्री अपने भ्रमण बुतान्त में करता है।

मालदा जिले का पुराणवर्यैन नगर प्राचीन स्थान है जिसका प्राचीन जैन प्रन्थों में भवित्वा उल्लेख पाया जाता है।

राजशाही जिले के मन्देश स्थान पर सुदाई द्वारा राँचिनाथ भगवान् की प्रतिमा प्राप्त हुई थी एवं इस स्थान के निकटस्थ तालाब को स्वोदने पर भी ये अब जैन प्रतिमाएँ बिली थी। इस जिले का पहाड़पुर स्थान तो पुरातत्व के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया, जहाँ पांचवीं शती के प्राचीन जैन अवशेष प्रमुख वरिधारा में उपलब्ध हुए थे।

चटबाँध जिले के सीतालुहड़ स्थानवर्ती संभवतः व चन्द्रताय टोके भी संभवतः तृतीय और अष्टम जैन तीर्थकर के नाम से सम्बन्धित हैं।

कुमिला जिले से जैनों का सम्बन्ध प्राचीन काल में इतना अधिक था कि कल्पसूत्र में वर्णित स्त्रेमलिजित्यः नामक अमण्ड शास्त्र यहाँ से निकली थी। इस जिले के मैता-मती स्थान में एक जैन तीर्थकर की प्रतिमा प्राप्त हुई थी, पर वह कहाँ रखी गई इसका ठीक पता नहीं लगा। परन्तु कुमिला के रामलाल पुस्तकालय के सुवरिन्टेंडेंट श्रीयुत आर० एम० चटर्जी ने जैन प्रतिमा के दर्शन किये थे।

अब तक प्राप्त पुरातत्व सामग्री एवं जैन प्रन्थों के अनुशोलन से पता चलता है कि भगवान् महाधीर के पश्चात् कई शताविंदियों तक तो बंगाल में जैनवर्मी का अन्धा प्रचार रहा। पर मध्यकाल में दुष्काल आदि प्रतिकूल परिस्थितियों के वशवर्ती हो कर जैन अमण्ड संघ दंचण और परिचम भारत में चला गया और उन प्रान्तों में ही विचर कर साधु लोग अपना शर्न चार व आठम साधना करने लगे।

बंगाल और बिहार में जैन संघओं के बिहार के अभाव में प्राप्तः यहाँ की जैन जनता कई शताविंदियों में इतर धर्मों के प्रभाव में आकर अपने परम्परागत निप्रत्यध धर्म को भुला देटी। फिर भी यहाँ की सराक जाति अपने में निरामिषभोजी उच्च संस्कारों को संजोये हुए विद्यमान है। यह जैनधर्म के लिए कम गौरव की बात नहीं है। बिहार प्रान्त में जैन तीर्थकरों से सम्बन्धित अनेक तीर्थ स्थान होने के कारण वहाँ समय समय पर तीर्थयात्रादि प्रसंगों से जैनाचार्यों व जैन धार्यों का आवागमन होता रहा है। १४वीं, १५वीं शताब्दी में बिहार प्रान्त के कई स्थानों में संत्रदलीम-महूल्याला नाम की जैनजाति विवाद करती थी। जिसने इस प्रान्त में तीर्थेन्द्रारादि के महत्वपूर्ण कार्य किये थे। सं० १४२२ की राजवृद्ध प्रशास्ति व १७वीं शती की पायापुरो लेख प्रशास्ति इस जाति के कीर्तिकलापों पर प्रकाश ढालती है। पालगंज आदि राजवराने पुर्णकाल में जैनधर्मानुयायी थे। पर उन का इतिहृत आज विमुक्तिके गहरे पट्टों से आच्छादित हो चुका है।

मुगल काल में राजस्थान से गैलडा गोत्रीय सुपसिद्ध जगन्नाथ का खानदान पहले बिहार और फिर बंगाल में आकर वसा और व्यापारिक व राजनीतिक ज़ोरों में अपनी कुशब्दता से अभूत-पर्व सफलता प्राप्त की। इसी अरसे में बहुत से जैन परिवार राजस्थान से बंगाल आए और मुर्मिदाबाद के आस पास अपने व्यापार का विस्तार करते हुए उन्होंने अपनी समृद्धि का इतना विस्तार किया कि समूचे आसाम व बंगाल में उनका प्रभुत्व छा गया। १८वीं शती से तो बराबर यहाँ जैनाचार्यों व साधु यतियों का बिहार होने लगा। ऐसी स्थिति में प्राचीन तीर्थों का मुनहद्वार हुआ और अनेक स्थानों में नव्य जिनालयों का निर्माण हुआ। यहाँ के पुरायात्माओं ने करोड़ों रुपये साथों ज़ोरों में व्यय करके अपना जन्म सफल किया। कई तीर्थों के उदार और आश्रयकरता आज भी उनी हुई है।



पृष्ठा - 1954 - अगस्त - 7
 मार्ग - 1955
 द्वितीय - अगस्त - 1956

प्राचीन जैन राजस्थानी गद्य साहित्य

(लेखक: — थी अगरतन्द नाइटा, शीक्षिक)

साहित्य के विभिन्न प्रकारों में गद्य और पद्य ये दो प्रधान हैं। प्राचीन संस्कृत श्रान्ति प्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में गद्य में भी काफी साहित्य लिखा। पर समरण रखने की सुविधा इत्यादि कारणों से पांछे पद्य को ही प्रधानता मिली, यद्यपि इसकी व्याख्या के रूप में गद्य का पूरा आश्रय लेना ही पड़ा। सरलता व सुगमता की दृष्टि से गद्य का विशेष महत्व है ही। प्राकृत और संस्कृत में तो गद्य के सैकड़ों य हजारों प्रन्थ हैं पर अपभ्रंश की प्रधानता के समय पद्य का आकर्षण इनना अधिक बढ़ गया या कि अपभ्रंश, में पद्य-वद्ध तो विविध प्रकार की सैकड़ों छोटी-बड़ी रचनाएँ मिलती हैं तब गद्य में लिखा गया एक भी स्वतन्त्र अपभ्रंश प्रन्थ नहीं मिलता। केवल कुत्रलय-माला आदि में कहीं कहीं प्रसंगवश अपभ्रंश-गद्य के कुछ वाक्य प्रयुक्त मिलते हैं।

अपभ्रंश से उत्तर-भारत की प्रायः सभी धर्मसान प्रान्तीय भाषाओं का त्रिकास हुआ। उनको अपभ्रंश की बहुत बड़ी परम्परा मिली, उन भाषाओं में भी प्राचीन गद्य बहुत ही कम पाया जाता है। चौदहवीं-शताब्दि के पहले का प्रान्तीय भाषाओं का गद्य दुर्लभ सा है। उस समय तक लोक भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश का अच्छा योग्य देखने को मिलता है। इसलिए तत्कालीन भाषा की संइता “अपभ्रंश” भी पाई जाती है। पाठ्न भण्डार सूची के प्रष्ठ १२८ में ‘उक्ति ऋति विभृति’ नामकरण की ताडपत्रीय अदूरे प्रति का विवरण प्रकाशित है। इसमें लोक भाषा को अपभ्रंश की संझा देते हुए जो उदाहरण दिये हैं, उसका थोड़ा सा अंश यद्यों दे रहे हैं:—

उक्तेर्यात्तिस्य ऋति प्रकटी करणं विद्यास्यामः ।
 अपभ्रंश भाषा अभ्ना संस्कृत भाषां प्रकाशविद्याम इत्यर्थः ।

अपश्चंश (श) भाषया लोको वर्तति यथा । अस्मुँ आर्थि । धन्मुँ कोज
(इ) हुह गायि इधु गुआल । यजमान कापडिथा । मोगाएँ धन्मुँ हो पानुजा ।
पुण्यी वर्तति । मेहं वरिस । आँखि देल नेहाल । आँखि देखत आच्छ । जीमें चाल ।
काने मुण । बोले बोल । याचा वदति । प० १०॥ बोलती । पायं जा यादेन
याति । सूरत आच्छ मूत्रगन्तास्ते ११॥ भोजत कर । देवदत्त कट करिह नेवदत्तः कट
करिष्यति १२ । हड़े पठ्ठतउ टालउ अहं पर्वत सपि टालयागि सवहि उपकारिभा
होउ सर्वप्रामुषकारी भूयान् १३ ।

औक्तिक संक्षक ग्रन्थों की परन्परा १७ वो शताविंश तक निरन्तर चलती रही
है । बाल शिक्षा (संप्रामसिद्ध रचित) इस सम्बन्ध में अच्छा धन्य है जिसके
अन्द्र अवधारण प्राचीन गुजराती गद्य संदर्भ के पश्च २०५ से २१७ तक में प्रकाशित
हैं । प्राचीन राजस्थानी की गद्य रचनाएँ १४ वीं शताविंद से ही मात्र होने लगती हैं ।
जिनमें से संवत् १३३० वीं आराधना, १३५८ का नथकार-ब्रह्माण्ड, १३५८ में
लिखित सर्व तीर्थ नमस्कार एवं १३६८ में लिखित अतिचार नामक लघु कृतियाँ
'प्राचीन' गुजराती गद्य संदर्भ में प्रकाशित हो चुकी हैं । तत्परती तथ्य खिनार
ओर 'धनपति कवि' को मैने 'राजस्थान-भाषा' में प्रकाशित कर दी है । इसी समय
को एक उल्लेखनीय कृति में चार प्रान्तीय भाषाओं के उदाहरण मिलते हैं जिसे
फलकत्ते की राजस्थान रिसर्च सोसायटी की मुख प्रविक्षा 'राजस्थानी' वर्ष २,
धन्य २ में १५ वर्ष हुए, प्रकाशित की गयी थी । इससे गुजरात, मालवा, पूर्व प्रदेश
और महाराष्ट्र की जौदहवीं शताविंद को बोली का कुछ परिचय मिल जाता है । उस
समय राजस्थान एवं गुजरात में एक ही भाषा बोली जाती थी, इसलिए इस रचना में
गुजरी नायिका के मुख से जो शब्द कहलाये गये हैं उसे प्राचीन राजस्थानी कहा
जा सकता है ।

"अहे वाहि एहु तुम्हारा देसु कवण लेवा मांहि गणियह । फिसउ देसु गुजरातु,
सांभलि माहरी चात । एउजु लाधउ मालुउओ जमाऊओ आलि मात्रि कोइ दाऊ
एजि सभ्यतय मूळ वारह व्रत पालियहि ।"

१४ वीं शताविंद की उपर्युक्त रचनाएँ तो बहुत छोटी-छोटी हैं और विवणा-
तमक होने से भाषा का प्रचार भी उनमें देखने को नहीं मिलता । अतः इन रचनाओं

इनमें से बात वरणाव के तो बहुत ही सुन्दर पद्धं विरहृत है। ये दोनों प्रथम भवानी नरोत्सवदास जी से संपादित होकर राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर से प्रकाशित होने वाले हैं। उपर्युक्त ऐन विद्वानों के वर्णन संप्रहात्मक प्रन्थों का भी संपाठन मैत्रि किया है, जो नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से लग रहा है।

राजस्थानी गद्य प्रन्थों की संख्या सैकड़ों पर है और विविध प्रकार के हैं। प्रारम्भिक वालावयोध आदि रचनाओं के निर्माण का उद्देश्य सावारण व्यक्तियों को सुगमता से लिखे जाने का ही रहा है। अतः इनकी भाषा बहुत सीधी साधी व सरल है। वीच वीच में प्रसंगानुसार कथाएं देकर प्रन्थों के भावों को हठयंगम करने में और भी सुगमता कर रही है। वर्णन प्रधान प्रन्थों की भाषा व शैली बहुत छटादार और रोचक है।

राजस्थानी गद्य रचनाओं का परिचय देने से पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं एवं प्रकारों का भी विवरण देदेना आवश्यक है। ऐनआगम और ओपदेशिक प्रन्थों की भाषा टीकाओं की संज्ञा वालावयोध और टव्वा वे दो प्रकार प्रधान हैं। मूल प्रथ के शब्दार्थ-रूप लिखे जाने वाली संक्षिप्त भाषा टीका 'टव्वा' के नाम से प्रसिद्ध है। हस्त लिखित प्रतियों में वीच में पंक्ति-बद्ध बद्ध अक्षरों में मूल पाठ रहता है। और उसका शब्दार्थ उससे ऊपर की पंक्ति में दोटे अक्षरों में लिखा जाता है। त्रिला व बोय वित्तन भाषा टीका का नाम है। उसमें मूल पाठ योड़ा रहता है। बहुत बार तो उसकी संक्षिप्त सूचना ही रहती है। उसका विवेचन वित्तार से रहता है। प्रसंग-प्रसंग पर कथाएं देकर भी राज्यों के भागों को विशद् रूप से स्पष्ट किया जाता है।

भाषा टीकाओं की तीसरी संज्ञा वचनिका भी पाई जाती है। सावारणतया भाषा टीकाओं की भाषा अर्यान् लोक भाषा में रचे जाने की सूचना रूप "भाषा" संज्ञा भी व्यवहृत देखी जाती है। वैसे किसी प्रन्थ का लोक भाषा में पदानुवाद किया गया हो, उसके लिए भी भाषा शब्द व्यवहृत मिलता है। जैसे 'नवतत्त्व भाषा' 'वीच विचार भाषा' आदि भाषा टीकाओं के अतिरिक्त स्वतंत्र प्रन्थ भी गद्य में लिखे जाये हैं। ये तीन प्रकार के हैं— सेन्द्रान्तिक, कथात्मक और ऐतिहासिक। सेन्द्रान्तिक प्रन्थों में कई तो सत्यज्ञान को सुवोध बनाने के लिए और कई खण्डन-नस्तिन के लिए और कई प्रश्नोत्तरों के रूप में प्राप्त हैं। कथात्मक प्रन्थ किसी कथा प्रन्थ के

आनुयाद रूप में भी होते हैं और मौलिक भी। ऐतिहासिक प्रथों में पट्टावलियाँ, वंशावलियाँ, आदि मुख्य हैं। श्री पूज्यों की दपतर बहिर्ये, वे जहाँ जहाँ पर विहार करते हैं, वहाँ के ग्रामों और आवकों और उनकी हुई भक्ति और शिष्यों की दी गई दीक्षाओं की नोंब आदि का इतिवृत्त रहता है। राजस्थानी गद्य में कुछ ऐतिहासिक शिलालेख भी लिखे गये हैं, जिनमें जैसलमेर के निकटवर्ती अमरसर के बाफना हिंस्पतरायजी के संदिर वाला ६६ पंक्तियों का महत्वपूर्ण वृहद शिलालेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजस्थानी भाषा में लिखा गया इतना बड़ा शिलालेख और कहीं भी उपलब्ध नहीं है। इस लेख में संवत् १८८२ में जैसलमेर से खरतर नच्छीय जिन महेन्द्रसूरि की आध्यक्षता में बाफना सवाईराम जी, मगनी रामजी आदि ने शत्रुंजय शीर्थ की यात्रा का बड़ा संघ निकाला था, उसका ऐतिहासिक वर्णन है। यह संघ भी अपने दंग का एक ही था। मुनि जिन विजय जी ने जैन साहित्य संघत् १८४६ में जिन महेन्द्रसूरि के आज्ञानुयायी मुनि केशरी चन्द्र ने जिता है। इसके पश्चात् संघत् १८२८ में इसी वंश वालों ने संधिर बनाया। इसके शिलालेख में भी आवा वंश राजस्थानी भाषा का है। ये दोनों लेख स्व० बाबू पूर्णचन्द्र जी नाम सारा संपादित जैन लेख संप्रदा' नृतोय खण्ड में प्रकाशित हो चुके हैं।

चिठ्ठी-पत्री व्यवहार के पत्रों से भी तत्कालीन गद्य का अन्तर मिल जाता है। खेद है कि हमने पुरानी चिठ्ठी पत्रियों को निकम्भी समझकर ऐसे ही नष्ट करने दी हैं। जैन भगवानों में प्राचीन पत्र कुछ सुरक्षित हैं। १७ वीं शताब्दि से अब तक के बहुत से श्री पूज्यों के आदेशपत्र, पर्यूपणों के समाचार पत्र, आवकों की ओर से दिये गए, 'वीततीपत्र', चतियों द्वारा श्री पूज्यों को और अपने आवकों एवं सहकर्मियों को दिये गए पत्र सेकड़ों को संख्या में मैंने संग्रह कर रखे हैं। इनमें से कई पत्रों में तत्कालीन इतिहास की सामग्री भी सुरक्षित है।

लोक भाषा में रचित पट्टावलियें, गुर्वावलियें १५ वीं शताब्दि से प्राप्त हैं। उपलब्ध गद्य गुर्वावलियों में विशिष्ट तुकान्त शैली में लिखी एवं सबसे प्राचीन तप्सगढ़, गुर्वावलि की सं० १४८२ की लिखित प्रति हमारे संप्रह में है। जिसे स्व० मोहनलाल दलीचन्द्र ईसाई ने 'भारतीय विद्या' वर्ष १ अंक २ में प्रकाशित

विना भाषा टीकाओं के समय नहीं थे। आवश्यकता की पुकार ने बोल काल की भाषा में उन ग्रन्थों का अनुवाद कराया। जैसा कि पहले बताया गया है, जो प्राचीन नगर रचनायें मिली हैं, वे सभी-आधकों के नित्य काम में आने वाली-पठनीय रचनायें हैं। जैसे नवकार मंथ नित्य स्मरणीय है। अतिचार भी-पात्रिक प्रतिक्रमण में बोल है। इनके द्वारा व्रतों के दूषणों का परिहार किया जाता है। आखणन में भी जाते हैं। इनके द्वारा व्रतों के दूषणों का परिहार किया जाता है। आखणन में भी अकरणीय-पाप कार्यों की आलोचना की गई है। और सर्व तीर्थ-नमस्कार में देवतोंके पूर्वत आदि में रहे हुए जैन मंदिर और प्रतिभाओं को नमस्कार किया गया है। तत्परतां वडी रचना सं १४११ में पाठण के मंत्रीदलीय आवश्यक विशिष्ट की अन्य-र्थना से रजिस वडास्पक वालावबोध है। उसमें आवकों पर्वं साधुओं के लिए प्रातः पर्वं साध्यकाल के लैं आवश्यक कर्त्तव्यों की विधि पर्वं विवेचन है। उनके लैं नाम हैं १. सामायिक (सम्भाष पूर्वक पाप कार्यों का त्यागकर ४८ मिनट तक है २. चतुर्वेशतिस्तय (चौरीस तीर्थकरों की तत्वना) ३. गुरु वंदन ध्यान करना) ४. प्रतिक्रमण (पापों से लीके हटना) ५. कायोत्सर्ग- (दंडात्म बुद्धि से हटना) और ६. प्रस्याख्यान (पाप न करने और तपश्चर्या आदि धर्म की प्रतिष्ठा लेना)।

हसी प्रकार उपदेशमाला, पुण्यमाला, शीलोपदेशमाला आदि औपदेशिक ग्रन्थों पर्वं सुषिष्ठातक, गोतमएन्द्र आदि ग्रन्थों और कल्याण मंदिर, भकामर आदि स्तंभों, जो कि नित पढ़ने पर्वं सुनने लायक प्रथा है—उनका भाषाविवेचन वालावबोध के नाम से किया गया है। किर लेद्वान्तिक ग्रन्थों और आगमों की भी भाषा-टीकाएं की गईं। साथ साथ प्रश्नोत्तर के रूप में और कथाओं आदि के मौलिक प्रथा भी लिखे गये। प्राचीन अंस-उपांत और आगमों, तिनका आवकों के लिए प्रथा भी लिखे गये। प्राचीन अंस-उपांत और आगमों, तिनका आवकों के लिए पढ़ना निषिद्ध था, उनका सर्व प्रथम लोक भाषा में विवेचन पार्श्वचन्द्र सूरि ने किया। इसके बाद तो प्रायः सभी आगमों के अनेक टन्डे और वालवबोध रखे गए। इससे इन ग्रन्थों के पठन-पाठन पर्वं प्रचार में वडी सुगमता उपस्थित हो गई।

वंद्रहीं शताव्दि में नहानप्रभसूरी के बाद मासिक्यसुन्दर सूरि ने वर्णनात्मक कथा ग्रन्थ पुर्वीचन्द्र चरित्र सं १४७८ में बनाया। इसी के आसपास लोप देश माला और कल्याण मन्दिर वालावबोध लिया गया। इस शताव्दि के उल्लेखनीय ग्रन्थ लेखकों में सोमसुन्दर सूरि हुए, जिन्होंने संवत् १४८५ में उपदेश माला वालाव-बोध, १५४६ में सृष्टि-शतक वालावबोध और योगशास्त्र-भक्तमर, पर्दन्तराधना,

आवश्यक वालावबोध आदि बनाये। सबत् १४८७ में तपागच्छीय द्यासिंह गणि ने संग्रहणी और ज्ञेय-समाप्ति के वालावबोध बनाए। १६ वीं शताब्दि में यह परम्परा जोरों से चली और अनेकों प्रन्थों की भाषाटीकायें लिखी जाने के साथ साथ प्रश्नोत्तर आदि मौलिक प्रन्थ भी लिखे गए। इस शताब्दि के प्रारम्भ में हेमदंस गणि ने सं० १५०२ में बहावश्यक वाला व बोध, फिर माणिक्य उन्द्र सूरि ने भव भावना वाला व बोध जिन सूरि ने गौतम परिच्छा वाला व बोध, उचेग देव ने सं० १५१३ में पिण्ड-विशुद्धि, आवश्यक और यडसरण पपन्ना की भाषाटीका बनाई। सं० १५१७ में आसचन्द्र ने कल्पसूत्र वाला व बोध बनाया। इसके बाद नेसुन्द्र और पार्वत्यचन्द्रसूरि दो वडे गवा लेखक हुए, जिनके रचित १०-१५ प्रन्थों के वाला व बोध प्राप्त हैं। पार्वत्य चन्द्र सूरि ने तो आगम प्रन्थों का ही विवेचन किया पर मेरु सुन्दर ने प्रकरणों के अतिरिक्त अन्दर अलंकार आदि के प्रन्थों की भाषा टीकायें भी बनाई। इनका कुछ परिचय हम अपने 'शुग प्रवान जिनका सूरि' प्रन्थ में दे चुके हैं। सोमसुन्दर सूरि के सुष्ठु शतक वाला व बोध के साथ मेरु सुन्दर का उसी नाम वाला प्रन्थ डॉ भोगीलाल सांडेसरा से संपादित होकर प्रकाशित हो चुका है। परिशिष्ट में उनके पुष्प माला वाला व बोध की एक कथा दी जा रही है। इसी शति के मौलिक कथा प्रन्थों में कालव कथा, मुनिपति चरित्र १३ ऋत कथादि की प्रतियां प्राप्त हैं, जिनमें से मुनिपति चरित्र की एक कथा देते हैं।

१७ वीं शताब्दि में आगगाडि की भाषा टीकाओं के अतिरिक्त कुछ प्रश्नोत्तर प्रथ और जन्म्यु कथा काइम्बरी, शूत टीका आदि मौलिक कथाएं भी गवा में लिखी गईं। और यह परम्परा लीखे भी वरावर चालू रही। यहाँ उन सबका विवरण देना सम्भव नहीं। ऐन गुर्जर कवियों भाग तीन के पृ० १५७१ से १७१३ तक अंग गवा राजस्थानी और गुजराती ऐन प्रथों का विवरण प्रकाशित है।

अभी प्राचीन गवा रचनाएं बहुत ही कम प्रकाशित हुई हैं। वास्तव में भिन्न भिन्न लेखकों की विविध प्रकार की गवा रचनाओं का संग्रह-प्रथ प्रकाशित होना अत्यावश्यक है। वैसे उनके त्वरण के सम्बन्ध में प्र० मञ्जुलाल मजूमदार का 'गुजराती साहित्यन्तो त्वरण' का द्वितीय भाग शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

१६ वाँ शती की मेरु सुन्दर लिखित कमला सती कथा २५ ।

हिंवे श्री कमला महा सतीजी कथा कहीये । श्री लाट देवि शुभ गच्छ,

नगरि मेघरथ राजा राज करइ । तेहनइ गुहांगणि विमला राणी । तेहनी उत्री कमला प हवद नामि । सात पुत्र अपरि ते पुत्री जाई । महा रुपवंती वाघती व्राघती योवन भरि आवी । इसि इसो पारद्र पत्र निराजा श्री रति वल्लभ राज करइ ६ । तेहनइ मेघरथ राजा साथि प्रीत हड अह । ते मेघरथ राजा नइ रति वल्लभ दिवाङी भेटि मोकलइ । इस चिह्न नइ श्रीति वाघवा लागी । दूत मांहो माहि आवता जि रहइ । अन्यदा मेघरथ चांतमह । जु रति वल्लभ सवान राज पुत्र कोई दोसइ नहीं । तुमार हड कमला पुत्री द्वह । ते रति वल्लभ नइ देह प्रीति करउ । इम यिमासी मेघरथ राजा सभा भांडि आवी बइठउ । तेतज्जइ कमला पुत्री पिता नइ उसंगि जई बइठी । राजा सभा भांडि आवी बइठउ । राजा प्रधान नइ कहइ । पुत्री नइ वर कठण कीजितिसइ घरनो चिता अपनी । राजा प्रधान नइ कहइ । पुत्री नइ वर कठण कीजितिह । तिवारइ प्रधान कहइ । स्वामिन । कुल शील सुषि योवनिकरो रतिवल्लभ राजा योग्य हीसइ अह । तिवारइ राजा कहइ । मादरी मनसा सारइ तुम्हे वचन कहिउ । तुझिकारणि राजा महुता ने लोनने करी सहस्राव कहिइ । ते याज साची । पछह प्रधाने कहिउ । स्वामी आपण ये 'दूत मोकली तातु' करायीइ । पछइ राजाइ सहूल प्रधान मोकली लग्न अपरि रतिवल्लभ तेजाधी, भलइ शुदृति रतिवल्लभ नइ आपणी पुत्री कमला दीधी घण्ड विस्तारि पाणि प्रदण दूउ । निहां हाथ मेल्हावणीइ रत्न, अलंकार, गज, अश्व वण्णा दीवा । पछइ रतिवल्लभ परणी वर भणी चालीउ । मेघरथ राजा सप्रेहेणी पाल्हउ वक्षिउ । अनइ रति वल्लभ मार्ग उल्जनंधी आपणइ नगरि महा विस्तरि आविउ । निहां कमला सदित पुत्र भोगवता वणां दिन गया ।

इसिइ समुद्र मार्हि गिरिश्वरीन नगरि कीर्तिवर्धन राजा राज करइ । पणि ते महा स्त्री लोकुप, तिणि अन्यदा कमला नूँ रुप सामली काम विहस हैँउ । तिवारइ युग्मर मित्र संत्रवादी असंति तेढी कहिउ । ताहरा मंत्र तु 'सिं' कल जो हैँ कमला स्त्री नइ की घइ दुखी थाउ । निवारइ मित्रि कहि स्त्री तु विहुँ प्रकारे अह । एक पतिव्रता, योजी असती तिहां जु खसी हुइ ते आणिया तु 'सिरंप्रथास कीजइ । जु कुरीलि स्त्री हुइ तुहिपङ्काइ' आणउ । तिवारइ राजा कहइ यो वात नी सीनिता करइ । एक वार इहां ताई आणि जिस तेहनउ फलाफल देखाइउ । पछइ मित्र भूमि यह मांडि पडसी ।

मंत्र जाप होम तिम करिचा मांडवां जिस लग्य एक मांहि कमला जिस पल्यंकि नी
दूँतो तिम जिथ की आकर्षी आए। तिसिइ युगंबर मित्र चितवह औहनइ हूँ जग
हु ? तु मभनइ सती पणइ दिवड़ा जि भस्म करिसिइ। इम चीतधी कीतिवर्धन न
कहिउ। भद्र आकर्षीयी विधा नइ बलि ते कमला अणि छइ। आधी यात तु जाणइ।
तिसिइ प्रभाति कमला आकर्षी नानी। जु जोइ तु न ते, गाम न ते आयास। एकु न
देखइ पछइ जूथ धष्ट दरिणी तो परिहं सर्व दिशि जोइया लागी। ते तबइ कीर्ति वर्धन
कहइ। हे भद्रि ! ओ घर, ओ ठांस, ओ संपदा, सहु ताह रड़ दुइ ताहरड आदेस
कारक छड़ ! ओ यात सांभली कमला रेसाण हूँतो कहइ। अरे दुष्ट ! तु कीर्ति
वर्धन फटी आज अकीर्तिवर्धन हूउ। तु मझ अगलि सिउ उभड रहिउ। हूँ तु
रतिवल्लभ राजा नी प्रिया, ते तूह नइ किम होसिइ ? जिम राजायली काग नइ कंठि
न च्छा जह। वापडा ! मभनइ शीघ्र माहरड घटि मोकलि। नह तउ माहरा भर्तार नो
याण ताहरा प्रसक नह दिग्पाल तो पूजा भणी कल्पसिइ जियारड कीर्ति वर्धन याजा हूउ
कहइ। बलात्कारि ताहरड सील भोजी सुं। इम कहि सर्वांग लोहि वीटी वप्ति अठोल
घानी वंशी खण्ड याती भूमी छइ। ओह वड रतिवल्लभ राजा जु जागइ तु कमला
रासी नइ न देखइ। पछइ पाहुरी पूछया। ते पाणि चित्मयापन दूता कहइ।
राजन् ! जियारड चोरह मुत्ता नीपर्हि राजा अकुल तउ सर्वेत्र जोइया लागउ तुही
न देखइ राजन् इहीं पादचारी कोइ ना थिउ। अहे तु प्रभात तोइ जागता हूँता। पछइ
सगले द्वीपान्तरे घर मोकल्या। पणि किही सुद्धि न पांसी जियारड राजाइ आपणहै
भति निश्चउ कीधउ। जु सही प ए राणी विद्या सिद्ध पुस्पि विद्या मांडी तु भइ
जिको प्रिया नो सुद्धि आएहु। तेह भह हूँ आपणउ अर्धे राज आपउ। इम कही
नगर मांहि पड़ वजाविउ। इस करतो पांच मई मालि केवजी नगर नइ
परसरि आधी समवसरिउ। पछइ तिहां राजाइ जहे केवली यांत्री देसना सांभली।
पछइ पूछिया लागउ। स्थामिन् ! कमला प्रिया जोबइ छइ ? कि मूळ ? अथवा
ए कहि नउ विलसिता अथवा जीवता मिल मिड ? इस पूछिइ दूतइ। केवली
कहइ। सेहजउ भवातर सांभलि, विरमयालियुरी। दुर्जय राजा। तेहनी भायी
बन्धा सेहयइ नागइ हूँतो। तिणि एक बार कोध लगी रासी एक गाढ़ी कुटी
बांधी करी केवला एक प्रहर सीम गुइ दरा माहि चाति राख्यी। पछइ दया
कपनिदू वाहिरि काढी। तीणइ भवि कमलाइ ए कर्म उपाजिउ। पूर्व कर्म लगई

सांप्रत कीति यर्पन राजा नइ मिनिइ धिनानइ बलि अद्यपरि तिहाँ वंदी खाणइ
ग्राती मंकी छइ। तेपाच्चिक्कलउं कर्म उद्धि आयिं। दे धन्या भरी सांप्रत-
ताहरी प्रिया कमला हुई। अनइ जे ईणइ भवांतरि छान पंचमी नउ नप तपिं
ते पुन्य नइ प्रसादि हिय मांस एक मांडि त्रिं भोज हो सिइ। तुम नइ मास-
नइ प्रांति निश्चनइ सिडि मिलि सिइ। कोह कर्म भोग व्याविष न यूटिइ।
इम केवली ना सुखइ तु कमला नउ पूर्व भवांतर सांभलि वाणा चीथ प्रति
बोन्हां दूंता। आपणइ थरि गवा। पछइ रति बल्लभ राजेन्द्र कटक मेली
कीर्तिवर्धन ऊपरि चालिवा लागड। एह वद तेह त्रि भुवन भानु केवली विहार
फरतउ मिरियर्धन पुरि आयिं। ते तलइ केवली नइ वांदिया गथइ। निहाँ
महात्माइ धर्म लाभ दीधउ। बलि त्रिशोप प्रति वोधमणी कमला नइ भवां र
कहिवउ मांडिः। कहिं त्रिको उद्ध शील पालइ तेह नइ लोहनी सांकल
वृद्धी जाइ। ए वात सांभली कीर्तिवर्धन गनमांडि चमकिः। जु
मह लोह पिहद्र ए आचार मांडिः। तिमइ कामर्त्ति दूंतइ कमला गहा सती नइ
पाइँ त्रि चीति दिः। परिं ते पह नइ शालि करि सहु निरक्त हुइ। इम चीति
पछइ पावरउ वंदी खाणइ जहै वंदी खाणा हूंती कमला वाहरि काढी। लाजतु हूंतु
राजा पगे लानी खसायिया लागड। जुहै भदा पापी विरासिः। आज पछइ तु जाहरइ
बहिन, तुहै जि धर्मचार्य, जे श्रै पाप करतउ तिवारिं। हे बहिन! तुंरति बल्लभ
राजा नी रीम उप समावे। हिय तुम नइ हूं प्रवदणि बइसारी ताहरइ पापारि लेइ
जाइसुँ। इम कहि जेतलइ प्रवहण सुउजकरी कीर्तिवर्धक राजा कमला नइ लई
चालिः। ते तलइ रति बल्लभ राजा कटक मेली सीमा से दड आयिं। तिसिइ कमलाइ
सामुहइ जण सोकली कहायिं। जु स्थामी ताहरह प्रसादि हुँ अहउ शील हूंती।
कीर्तिवर्धन वोधव सायिं आवउ शडइ। तुम्हे ए राजा उपरि कोय म करीयो।
एहयउं स्वरूप सांभली राजा चितवइ। आहो! शील तु महात्म्य जोउ। जे कमला
नइ शत्रु हूंता ते गित हुआ। इम मांहोमांडि बेह राजा मिल्या। चिहु उचित प्रति
पत्रि कोधी। पछइ कमला सकी महा त्रिसारि नगर मांडि आणी। हिय केवला एक
द्विवस कीर्तिवर्धन कमला बहिन समीपि एह पछइ आपणइ नगरि पहुंड। पछइ
रतिवल्लभ कमला बहिन गुरुस्थ धर्म पालि अवसरि पुत्रनइ रज देह दान, संघ पूजारिक

शोध-पत्रिका

भक्ति करी श्री चंदनाचार्य समापि दीक्षा लीयी । चारित्र पालतां ग्रातिया कर्मजइ
ज्ञपि करी केवल ज्ञान पांझी बेहुं मोक्ष पहुँता ।

इति शीलोपदेश^१ माला वाला व बोध भी खरतर गच्छे श्री जिन चन्द्र सूरि
विं श्री मेरु सुन्दरोपाध्याय विं श्री कमला महासती कथा ॥ ३१ ॥

मुनियति चरित्र की एक कथा

मुनियति महात्मा कुंचिक श्रेष्ठि आगलि कहइ । अहो कुंचिक श्रेष्ठि तू पाहइ
सीहणी डाही । जिणह विचार कीष्ठउ, निरवचार पणउ न कीघडं ताहरी परिठइ ।
ते पसु भलां । कुंचिक श्रेष्ठि कहइ । भगवन् ! हृण सीहणि । जीणह डाह पणउ
कीघडं । मूरख न हुई । मुनियति कहइ । सीहणि नी कथा । जिम आगह वैताङ्ग
परवत नी गुफा मांहि एक सीहणि वसइ । सीहणि नइ हरिणली सीयालीसिं
सखि पणउ । त्रिणिहि विहिनरनो परि प्रीतडं हृडइ छइं वह सइ । एक एक
नइ काजि आवइ । सीहणि सपराणी भणी हरिणली सीयालिणि नइ । का काई
कहइ तही । त्रिणिहि वाहिरि फूमूद गोचरि जाइ चरि आचइ, गुफा मांहि
सीहणी कन्हइ आवइ । आपणी आपणी वात कहइ । प्रीति लगइ । इम दी
झडा जाइ । एकदा सीहणि नइ सीहणां वालक जाएयां । हरिणली सीयालिणि
पूयावचि कहइ । इम करवा सीहणि एकदा भूली हुई । हरिणली सीयालिणि
नइ कहिउ, हउ भूली । लेवा जाउ चेडि मांहि विहनर ओ माहरा वालक सूडी

१ श्रीपदेशिक प्रन्थों की परम्परा बहुत प्राचीन है । धर्मदास गणि रचित उपदेश माला
में वो शतान्दि से भी प्राचीन प्रन्थ है । परबती प्रन्थों में शीलोपदेश माला पुष्प
मालादि उल्लेखनीय है । इन तीनों प्रन्थों की वाला व पोथ मालादीका मेव उन्दर ने
भी है । तीनों में शीलोपदेश माला सबसे छोटा प्रन्थ है । इसकी सापा टीका में सीता
दमयन्ती आदि सतियों की ४२ कथाएं दी गई हैं । अन्य दोनों में छोटी वही कथाओं
की संख्या अधिक है । इन कथाओं में तत्त्वालीन गय वां उन्दर उदाहरण मिला आता
है । मेरु उन्दर रचित कथाओं का अमोहन सर्वधा प्रवाशन तहीं हुआ । अतः उपदुक्त
छोटी कथा दी गई है । सीता य नल दमयन्ती आदि कथाएँ वही होने से नहीं
दी गई हैं । आपके उपदेश माला व पुष्प माला की कथाओं के उदाहरण मिर रभी
ग्रन्थित किये जाएंगे ।

परह दिल्ली इसिं कहि सीहणि गरा माहिवड नीरस गई। हरिणिली नह सीयालिणी ये गुका मांहि रहि। सीहन बालक नी रहा गरहै। अहं गलाई हरिणली नह निटा आयी। सीयालिणी मायावणी चागइ छहै। सीयालिणी मन मांटि चितवड, हरिणी रह लोहा आयी। सीहणि तह अह नहीं, इसिं चीतची नह सीहणी वा चलियी खावा अनड गुह टड़ लोही घरड़। अह नह हरिणी नह सीहणी वा चलियी खावा अनड गुह टड़ लोही घरड़। अह नह हरिणी नह गुहड़ लहिं आपणह स्थान कि वहठा। लगारे क हुइ। ते तजह सीहणि आयी। जोया लागी आपणा बालक न देखइ ओरइ ओर, परह जोइ। न देखइ। कुछी सीयालिणी विडिति आहा, माझरं बालक हुता किहां ग्या? त. रहइ हरिणिली नह संभाली आप्या हुता। सीयालिणी कूडारिणि कहवा लागी। याई देखइ नह हरिणतो खाया, सीहणि शुद्धिं। किम जाणैं सीयालणी कहिं। हरिणिली नड गुहड़ लोहि घरड़ अप्प्र अदिनाण सीहणी हरिणिली जगीडी नह पुछिं। यिहल! माझरं बालक किहां ग्या? हरिणिलीनी निटा जालि। योलवा लागी हुत जागउं। सीहणि शुद्धिं, गुहड़ जी देवणी हुतो। शोउडं का न हुतउं। सीयालणी कहिं हरिणिली नह फड़ तह जीहणी नां। वाचां खायां हरिणिली कहवा लागी। नह खायां। सीयालणी कहिं गुहड़ रातउं जिहउं खायां सीयालणी नह याद लागउ एक एक रद्द करइ खायां। सीहणि नह याद करती वे यासी यह मन मांहि विमासी नह निहु नह कहइ। तन्हे आपणां खायउं यमउं। हरिणिली पहिलड उभिं तवारह चीला हरिं जे खांका शीठा। सीयालणी नह कहिं तु अमिं सियालिणि अमिं आपणुं खायउं। तवारह सीहणी जोया लागी। नह देखइ। आपणा बालकनां सपरता अवयव देवह। नय देखइ पग देखइ। अनड मनमांहि चीतचिं, सहो पापिणी सियालणी माझरं बालक खायां। योसा योह सीयालणी गारे। हरिणीनी नह गान श्रीधर। ता भो कुचिक! अंगि, ते सीहणिड भाली, नु पाहइ विचार श्रीधर। अण विमासहं हरिणिली नह अनरं ता शीधर। जीलड शुद्धि विमासी नह सीयालणी नह अवरथ कोरउं। यहु नक्या नक।

(१७ यो लागी लिंग मुनिश्रुति अरिष्ठ बालां से)

प्राचीन जैन प्रन्त में कुल और गोत्र

भगवान् अपारिष्ठा वापि तत्र ए
वा एवं भगवान् अपारिष्ठा वा कर्मणे देव एव
तत्त्वात् भवद्यन् वै गानिक इष्टिक्षेपे यज्ञो है
केवल। जातियादर त्रिमुखे जगत् के नीचे उ
भागीयो हैं। फिर भी और उन्होंने भूमि में
उमड़ी भाँकी हृसं इन जैन-ग्रन्थों में मिल
में निर्वाकिय वृक्षों ग्रन्थों वाले उन्नेश

कुल की अनुत्ति जैनागमों के 'ब्रह्मदेव हृडी' नामक प्राचीन ब्रह्म-प्रथा में समाझूदी भव्य रूपाभ्युपाद तुम वर्षों के लिए जानभूत दृष्टि रखा रहा। कुल व्रिधा रहा। उससे उद्देश आया। उसका दर्शन। निर भृगुभैर्देव ने गच्छ-प्राचीन द्वादशिंशिं का कुल 'जीव', नम्रवर्णन्य विनाश। इस प्रथार वार कुलों की व्याप-

अजगर का जो प्रश्न था यह गोपनीय तो
न हो। इसका भी "वसुदेव हिंडी" में जाप
पूर्णभृत्य के समय तक के लोक दुर्गमित
होते हो उनमें परिषद-परिषत् संबंध हो। जाता

जाति और जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य
में जन्म अवधिरहि, वृक्ष दर्शन वैष्णव
दृष्टि, उन परम जानिक्यवस्था को महत्व नहीं
देते बल्कि जीवन का नवेश अपापिता है, जैन धर्म
कुटुंब जार नहीं करता उन समव जी महत्व वह
है। प्रस्तुत लेख में जैन आगमादि प्राचीन प्रथाओं
जाता है, इसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है।
उभये जाति, कुल, गोत्र, एवं नाम के इतरा ही की
रहे हैं। इनका नवेश मातृ-पक्ष में माता गदा है।
प्राचीन जात होता है। जाति के बाद कुल और
गोत्र बदलते हैं। जानि भूमूल्यवादी है, कुल, गोत्र
जाति ता एकात्मता भूमूल है और जाति
भूमूल सभी एक है इसलिए भूमूल्य की दृष्टि
कहो जा सकती है।

न संवेदशम्, प्रथम तीर्थेकर ऋषभदेव से हुई।
गुणवान ऋषभदेव का चरित्र वर्णित करते हुए कहा
कि उसका रूप वारण कर्त्ता ईश्वरो नाम भार
तीर्थ पालने हेतु लिया अपना शरीर होना हाथ
करने वाले उनके द्वारा जल इत्यात्मा
नाम और वास्तविकताको का कुल 'उत्त' भोग प्रेमी
का कुल 'नान्दन' और आजाकारी गेवकों का कुल

गुल रिनों की धिना भी अमरदेव
दिवन्य मिलता है। जैनागमों के अन्तर भगवान्
(पूर्ण ग्रन्थ में) हृषि में उत्पन्न होते हैं। वस्तु
उन भावहर अदि की आवश्यकताएँ तभी देखी

के द्वारा ही पूर्ण हो जाती थी। पर क्रमशः अवसर्पिणी (हासमान) काल के प्रभाव से वृक्षों की फलदातृशक्ति काम होती गई व क्षुधा आदि आवश्यक गाँड़ बढ़ती गई। अतः अभाव, तृष्णा के कारण संघर्ष होने लगा। भगवान् ऋषभदेव का समय युग सम्यता (वर्तमान समयता की प्राचीन परम्परा) का उसी समय हुई। विना पका धान्य खाने से पता नहीं उपाय पूछा। परन्तु कारणिक भगवान् ऋषभदेव ने पाव वतलाये। वनुदेव हिंदों के अनुभार ऋषभदेव ने तत्त्व नये आविष्कार किए। आवश्यकता आविष्कार की जा

निति (परिवर्तन) काल था। अतः नई हुआ। धान्य एवं अग्नि की उत्पत्ति तब लोगों ने ऋषभदेव से इसका विवरण लिया। मिट्टी के वर्तन बनाने आवश्यकता का अनुभव कर कर्द

उन्होंने (१) कृष्णहार (२) लोहार (३) वनवार कर्म, ये ५ मूल शिल्प सिखाये। इन पांच में से प्रत्येक के २०-२० में वर्तलाये हैं। इस तरह शिल्पों की संख्या १०० होती है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ग्राही और सुन्दरी को दाहिने व बावें हाथ से लिया और नणित की शिक्षा दी। अपने पुत्र भरत (जिसके नाम से इस धोत्र का नाम भारत व भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ) को रूप कर्म और नाट्यशास्त्र का उपदेश दिया एवं वाहुवली भारत व भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ) को लक्षणशास्त्र सिखाया। अन्य कुमारों को मणि, रत्न, मीमितक के आभूषणों की कला सिखायी, रोग चिकित्सा व वाणिज्य भी वर्तलाया। भगवान् ऋषभदेव ने पुरुषों १०० शिल्पों के नामों की सूची खिसी ग्रन्थ में हो, किन्तु उन्हीं जानकारी में नहीं है। इन शिल्पों-जीवन निर्वाह के धन्वों तथा कार्यों से भी जातियों की अनुकूलता प्रसिद्धि में आई।

जैनागम स्थानांग सूत्र के ६ ठें स्थान में ६ प्रकार के कुलों को आर्य वर्तलाया है, उग्र, भोग, राजन्य, ईश्वाकु, जात और कौरव यथा—“छविहा कुशरिया मणुस्ता पन्नता तंजहा उग्गा, भोंगा, राईन्ना, ईक्खागा, नाया, फोर्का” (सूत्र ३५) इसी सूत्र में ६ प्रकार की जातियां आर्य वर्तलायी गयी हैं। अम्बवट्ठ, कर्लिदा, विदेह, “विदेहगाई, दरिता, चंचुणा ये ६ अन्य जातियां हैं।

“छविहा जाइ आरिया मणुस्ता पन्नता तंजहा वट्ठा, कर्लिदा, विदेहा, वेदिहगाईया हरिया, चंचुणा भेद छविहा इमजाइयो,” (सूत्र ३४)

“दसुदेव हिंडी” में समुद्र विजय और उग्रसेन के पूर्वों की परम्परा वर्तलाते हुए “हरियंश” की उत्पत्ति का प्रमाण संशोधन में दिया है। उसके अनुसार हाँ-भग धोत्र के युगलिक हरि और हरिणी को उनके शत्रु वीरक नायक देव ने चंगा नगरी के ईश्वाकुकु नान राजा चंद्रकीति के पुत्रहीन अवस्था में भर जाने से उनके उत्तराधिकारी रूप में स्थापित किया। उस हरि राजा की संतान “हरियंशी” कहलाये।

“कल्पसूत्र” में २४ तीर्थकरों के कुलों का उल्लेख कर हुए २१ तीर्थकर ईश्वाकु कुल में और काश्यप गोत्र में उत्पन्न हुए। दो तीर्थकर हरियंश कुल में जीतम गोत्र में उत्पन्न हुए वर्तलाया गया है। तदनंतर भगवान् महावीर स्वामी णाय (जात कृष्ण) में उत्पन्न हुए। उनका गोत्र च्यवन (देवलोक की अपेक्षा) के समय उनके पिता ऋषभदत्त ग्राहण का कोडालश गोत्र और उनकी

गाता देवानंद का जालवर गोत्र बग़ाज़ाया है। तदन्तर नर्भीपहरण के प्रसंग में इन्द्र ने कहा है कि अरिहत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, उत्र, गोत्र, राजन्य, इक्षवाकु, अश्रिय, हरिवंश इन कुलों में उत्पन्न हुए। करते हैं। क्योंकि वे विशुद्ध जाति, कुल, वंश नाने गये हैं। वे अंतकुल, पंतकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, भिक्षुकुल, कृपणकुल और त्राहूण कुलों में उत्पन्न नहीं होते।

रेक्त २४ वें तीर्थकरों के गोत्र के नामों के साथ उनके गोत्र का भी उल्लेख मिलता है। ऐसे एक समय "गोत्र" भी बहुत महत्व का स्थान पा गया था, स्पष्ट है। प्रभावशाली व्यक्ति विषय ले संतान का गोथ उसके वंज के नाम से प्रसिद्ध होता है। जैसे विश्वठ ऋषि की गतान ही वाशिष्ठ गोथ की राजा। "स्थानांग" मूत्र के अनुसार मूल गोत्र सात थे। काश्यप, गोत्र, वृत्स, कुत्स, कौशिक, मंडप और वाशिष्ठ। फिर क्रमशः एक एक गोत्र में अनेक विशिष्ठ व्यक्ति द्वारा, जिनकी संतति का गोथ उनके नाम से प्रसिद्ध हुआ। "स्थानांग" में उपर्युक्त सात गोत्रों में से प्रत्येक के सात सात भेद वर्तलाये हैं। मूल पाठ इस प्रकार है—

"सत्त मूल गोत्रा पन्नता। तं जहा :—कासवा, गोयमा, वत्था, कोत्या, क्रेसिया, मंडवाम, वशिष्ठा।"

१ "जे कासवा ते सत विहा पन्नता तं जहा—ते कासवा, ते संडेला, ते गोल्ला, ते वाला, ते मुग्गातिणो, ते पव्योच्छतिणो, ते वरिरापण्हा"।

२ जे गोयमा ते सत विहा पन्नता तं जहा:—ते गोयमा, ते गग्गरा, ते भारद्वा, ते अंगिर, ते सर्वराम, ते भरुथरामा, ते उदगन्नाभारो।

३ जे वत्था ते सत्तविहा पन्नता तं जहा:—ते वत्था, ते अग्नया, ते मितिया, ते सामिलिणी, ते संभग्या, ते अटिट्सेणा, ते वीयकण्हा।

४ जे कुत्था ते सत्तविहा पन्नता तं जहा:—ते कुत्था, ते मुग्गलायणा, ते पिंगलायणा, ते कोडिन्ना, ते मंडलीणो, ते हारिद्वा, ते गोभिया।

५ जे कोसिया ते सत्तविहा पन्नता तं जहा:—ते कोसिया, के कच्चायणा, ते सालंकायणा, ते गोलि-कायणा, ते पल्लीकायणा, ते अग्निच्छा, ते लोहिचा।

६ जे मंडवाते सत्तविहा पन्नता तं जहा:—ते मंडवा, ते अरिठ्ठा, ते समुत्ता, ते तेला, ते एल्ला-बच्चा, ते कंडिला, ते करुणायणा।

७ जे वासिष्ठा ते सत्तविहा पन्नता तं जहा:—ते वासिष्ठा, ते उज्जायणा, ते जारुण्हा, ते गोवच्छा, ते कोडिन्ना, ते सर्णि, ते पारासरा।

अर्थात् मूल गोत्र ७ हैं। काश्यप, गोत्रम, वृत्स, कुत्स, कौशिक, मंडप, और वसिष्ठ।

काश्यप के ७ भेद हैं। काश्यप, सांडिल्य, गोल, थाल, मुज, पर्वत, वरिस, कृष्ण।

गोत्रम गोत्र के ७ भेद हैं। गोत्रम, गर्व, भारद्वाज, अंगिरस, सकंराम, भाष्कराम उद्घारा।

वृत्स गोत्र के ७ भेद हैं—कुत्स, मोदगलायन, पितगण, कोडिन्न, भलिक, हरित, सोमक।

कौशिक के ७ भेद हैं—कौशिक, काल्यायन, सालायन, गोलिकायन, परिकंकायन, अगतया, लोहित्य।

मंडप गोत्र के ७ भेद हैं। मंडप, आरिष्ठ, समंत, मेला, ऐलापत्य, कंतेल, खामण।

वाशिष्ठ गोत्र के ७ भेद हैं—वाशिष्ठ, उजायन, जार्ण, पथान्नापत्य, कोडिन्य, तत्ति पारासर।

इनमें से कुछ तो बहुत प्रसिद्ध रहे हैं और उन गोत्र वाले व्यक्तियों की उल्लेख 'कल्पसूत्र' की स्थविरावली और जंबूद्वीप पन्थति में मिल जाता है। पर कुछ गोत्र वाले व्यक्तियों का उल्लेख नहीं गिलता। अतः वे कम ही प्रसिद्ध रहे मालूम होते हैं। जैनेतर ग्रन्थों में भी इन गोत्रों और उनसे निसृत शाक्षा और प्रवर्त्तों मध्यमें लाहित्य बहुत विशाल है। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी गोत्रों के नाम भिलते हैं। अंतः ऊपर दी हुई सूची में जो नाम अगाए हैं, उनके शुद्ध नामों की प्राप्ति जैनेतर लाहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से हो गती है।

कल्पसूत्र में २८ लीथंकरों के कुलों के नाम जो गोत्रों के नाम दिये हैं उनसे एक महत्वपूर्ण वैदिक प्रथाद का समर्थन होता है। तीवंकर सभी क्षत्रियवंश ने हुये पर उनके गोत्र ब्राह्मण ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हुए गिलते हैं अर्थात् जो ब्राह्मण गुरु जिस के गोत्र थे, वे ही गोत्र उनके यजमान क्षत्रियों के भी थे। इससे राजाओं के मान्य गुरुओं ऋषियों के नामों से ही इनका गोत्र भी प्रसिद्ध हुआ, जात होता है।

जैसा कि पहले कहा गया है भारतवर्ष में प्राचीन काल से गोत्रों का बड़ा भारी महत्व चला आता है। जैनागमों से इसकी भली भाँति पुष्टि हो जाती है। "जंबूद्वीप पन्थती" सूत्र से इन गोत्रों के महत्व का एक महत्वपूर्ण निर्देश मिल जाता है। उसमें २८ नक्षत्रों के भी भिन्न-भिन्न गोत्रों का उल्लेख है, जैसे—

नक्षत्र नाम	गोत्र नाम	नक्षत्र नाम	गोत्र नाम
१. अभिजित	माद्गल्यायन	१२. मृगसिर	भारद्वाज
२. श्रवण	साल्यायन	१३. आद्रि	लोहित्यायन
३. वनिष्ठा	अप्रभाय	१४. पुनर्वसु	वशिष्ठ
४. शतभिषक्	गणिलायन	१५. पृष्यका	अवमञ्जायन
५. पूर्वा भाद्रपद	आतु कर्ण	१६. आश्लेषा	मांडव्यायन
६. उत्तरा भाद्रपद	धनंजय	१७. मधा	पिण्यायन
७. रेवती	पाण्यायन	१८. पूर्वा फाल्गुनी	गोवल्लायन
८. अश्विनी	आश्वायन	१९. उत्तरा फाल्गुनी	काश्यप
९. भरणी	भार्गवेश	२०. हस्त	कौशिक
१०. कृतिका	अग्निवेश	२१. चित्रा	दाभयिन
११. रोहिणी	गोतम	२२. स्वाति	चामरद्वायन

[चैत्रन्येष्ट, १८८३ शक]

नक्षत्र नाम	गोत्र नाम	नक्षत्र नाम	गोत्र नाम
२३. विशाखा	सृंगायन	२६. मूला	कात्यायन
२४. अनुराधा	गोवल्यायन	२७. पूर्वांशुदा	बाभ्रव्यायन
२५. उर्येष्ठा	चिकित्सायन	२८. उत्तरांशुदा	व्याघ्रापत्य (नक्षत्राधिकार)

उपर्युक्त सूची में कुछ गोत्रों के नाम तो चे ही हैं जो "स्थानांगसूत्र" के सातवें अध्ययन में आये हैं और कुछ नाम ऐसे भी हैं जो यहाँ दी गई १९ गोत्रों की नामावली में नहीं आये हैं। इसने तो गोत्रों की विवृत्ता का पता चलता है।

गोत्रों का महत्व उस काल में अधिक था। यह बात जैनसूत्रों के अन्य उल्लेखों से भी अत्यंत स्पष्ट है। "आवश्यक निर्युक्ति" की ३८१ गाया में लिखा है कि चौदीस तीर्थकरों में से सूनिसुव्रत और अरिष्ट भेदि गोत्रम् गोत्र के थे। ३८२ गुरु और वलदेवों में ८ गोत्रन् गोत्र के थे। केवल राम और लक्ष्मण काश्यप गोत्र के थे। अब १. नहापुरुषों के गोत्रों का भी उल्लेख करना सूदकार ने आवश्यक समझा है।

बोर निर्विण के ९८० वर्ष में नागम लिपिबद्ध हुए हैं। उस समय तक के दुग्रश्वान आचार्यों एवं स्थविरों के नामों के साथ गोत्रों का उल्लेख किया जाना तत्कालीन गोत्रों के महत्व को भी भी स्पष्ट करता है। इठी शत. ई तक तो इन प्राचीन गोत्रों का ही व्यवहार होता रहा है। "कल्पसूत्र" की स्थविरावली से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है। स्थविरावली में पाये जाने वाले गोत्रों के नाम उन गोत्रों में होने वाले आचार्यों के विवरण नोचे दिये जा रहे हैं:—

गोत्रों के नाम	आचार्यों के नाम
१. गोत्रम्	इन्द्रभूति भग्नभूति, वायुभूति, अकंप, स्थूलभद्र, आर्यदिश, वज्र, फालगुः ।, नाग, कालाक, संपिल, भद्रवृद्ध, संगवाली, आदि।
२. भारद्वाज	व्यक्त अ भद्रयश।
३. अग्निवेश्याराज	सीधर्म।
४. वशिष्ठ	मंडित, आयंसुहस्ति, धनगिरि, जेहिल, गोदारा।
५. काश्यप	मांयंपुत्र, जंत्र, सोमदत्त, रोहण ऋषिगुप्त, विद्याधर गोपाल, आर्यभद्र, आर्यनक्षत्र, रक्ष, हस्ति, सिद्ध, घर्म, देवरथी, नंदनी पिता।
६. हरितायन	अचलधा कौडियन, मैतायं और प्रभास।
७. कात्यायन	प्रभव।
८. वत्त	शश्वभव, आयंरथ।
९. तुंगियायन	पशोभद।
१०. माडर	संभूति विजय, आयं शांति, विष्ण, वेशीगण।

गोत्रों के नाम	आचार्यों के नाम
११. प्राचीन	भद्रदाहु।
१२. ऐलापत्य	आर्यं महागिरि।
१३. व्याघ्रापत्य	सुस्थित, सुप्रतिबद्ध।
१४. कुल्स	शिवभूति।
१५. कौशिक	आर्यं, इन्द्र-दिन, सिहगिरि, रोहगुप्त।
१६. कौडाल	कामर्धि।
१७. उत्काशिक	वज्रसेन।
१८. सुम्रत या श्रावण	आर्यं-धर्म।
१९. हारित	श्री गुप्त।
२०. स्वाति	सार्विज्ञामंज्ञम् (नंदी सूत्र)
२१. सांडिल्य	आर्यं जीतधर (नन्दि-स्थविरावली गाथा २६)

अंगविद्या आदि ग्रन्थों में भी गोत्रों के नाम आये हैं। उन पर किर कभी विशेष प्रकाश ढाला जायगा। उपरोक्त उल्लेख सभी द्वेताम्बर प्राचीन ग्रन्थों के हैं जो ६ठी शती तक तैयार हो चुके थे। दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थों में भी प्राचीन भारतीय जातियाँ, वंश, जात, गोत्रादि संबंधी जो उल्लेख प्राप्त हो जाते हैं उन्हें प्रकाश में रखने का दिगम्बर विद्वानों से अनुरोध किया जाता है।

इन उल्लेखों से एक तथ्य अत्यन्त स्पष्ट है कि ६ठी शती तक आजकल की जैन जाति, वंश, गोत्रों के कोई नी नाम प्रसिद्धि में नहीं आये थे। बतः वर्तमान जैन जातियों की उत्पत्ति पीछे हुई सिद्ध हल्ती है; इस संबंध में विशेष प्रकाश किसी स्वतन्त्र लेख द्वारा ढाला जायेगा।

जैनेतर ग्रन्थों में गोत्र, प्रवर, निर्णय, जातिभास्कर आदि अनेक ग्रन्थ हैं जिनसे भारत के प्राचीन कुलों और गोत्रों के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन करने में उपरोक्त जैनग्रन्थों की सामग्री उपयोगी गिरद होगी।

साधारण से साधारण व्यक्ति समझ सके। फलतः तेरहवीं शताब्दी थे राजस्थानी की रचनाएँ हमें ग्रास होने लगती हैं। ये रचनाएँ छोटी-छोटी हैं और संभवतः मंदिरों एवं उत्सवों में गीत एवं नृत्य के साथ प्रचारित करने के उद्देश्य से रची गई हैं। नृत्य और गीत के साथ लंबे काव्यों के अभिनय में खुशिधा नहीं होती, अतः बड़े-बड़े काव्य संस्कृत, प्राकृत पद्म अपभ्रंश में ही रखे जाते रहे। 'रास' संज्ञक रचनाएँ मूलतः नृत्य के साथ गई जाती थीं। चौदहवीं शती तक वे लकुटी रास, तालक रास आदि के नृत्य एवं गीत के साथ प्रचारित होती रहीं, लोग प्रथकारों द्वारा रातों के अंत में किए गए निर्देश से स्पष्ट हैं। इस समय के बड़े-बड़े रास उपलब्ध नहीं हैं। पंद्रहवीं शती से अपेक्षाकृत बड़े रास रचे जाने लगे और क्रमशः उनका विस्तार बढ़ता गया। तब उनका उद्देश्य कथावस्तु का विस्तार से वर्णन करना हो गया और ये व्याख्यानों आदि में गा-गाकर लंबे समय तक सुनाए जाने लगे। आज भी जैन समाज में यह प्रथा प्रचलित है। कुछ वर्ष पूर्व तक इवेतांवर जैन समाज में नियमित रूप से दोपहर एवं रात का व्याख्यान इन रासों को गाकर ही किया जाता रहा है। गाँवों में अब भी ऐसा प्रचार है, पर नगरों में कर होता जा रहा है। रासों के द्वारा व्याख्यान देनेवालों को लोग कम पढ़ा-लिखा समझने लगे, इसलिये व्याख्याताओं को अपनी विद्वता का परिचय देने के लिये प्राकृत एवं संस्कृत काव्यादि प्रथों को अपने व्याख्यानों में अधिकता से अपनाना पड़ा, जिस प्रकार कि राजस्थान में जैन मुनियों को, जिनके व्याख्यान कुछ समय पहिले तक मारवाड़ी भाषा में हुआ करते थे, अब उसी कारण से मारवाड़ी का स्थान हिंदी को देना पड़ा है। किर भी गाँवों में, जहाँ शिक्षित व्यक्ति कम हैं, जैन मुनियों के व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और उनमें रास, ढालें आदि गाकर सुनाई जाती हैं। तेरहवीं संप्रदाय में आज भी अधिकतर व्याख्यान मारवाड़ी में ही होते हैं और चातुर्मास्य में रात के समय नियमित रूप से मुनि के शराज रचित रामयशोरसायन रास की ढालें गाकर सुनाई जाती हैं। परंतु समय के प्रभाव से अब वहाँ हिंदी में भाषण देना प्रारंभ हो गया है, क्योंकि इसके बिना नवशिक्षितों का आर्कषण कम होता है और वहाँ भी शिक्षितों की कोटि में नहीं समझे जाते। स्थानकवासी संप्रदाय में

यहाँ भाषा-संज्ञों का परिचय देने के पूर्व उनकी विविध संज्ञाओं की एक सूची प्रस्तुत की जाती है—

- (१) रास; (२) संधि; (३) चौपाई; (४) काशु; (५) धमाल; (६) विवाहशो;
- (७) धबल; (८) मंगल; (९) वेलि; (१०) सलोका; (११) संवाद; (१२) वाद;
- (१३) झगड़ा; (१४) गातका; (१५) वावनी; (१६) कफक; (१७) बारहमासा;
- (१८) चौमासा; (१९) पवाड़ा; (२०) चर्ची (चॉचरि); (२१) जन्मानिपेक (२२) कलश; (२३) तीर्थमाला; (२४) चैत्यपरिषार्दी; (२५) संघ वर्णन;
- (२६) दाळ; (२७) ढालिया; (२८) चौढालिया; (२९) छढालिया;
- (३०) प्रवर्धय; (३१) चरित; (३२) संवंध; (३३) आख्यान; (३४) कथा;
- (३५) सतक; (३६) बहोसी; (३७) छत्तीसी; (३८) सतरी; (३९) घतीसी;
- (४०) इसीसो; (४१) इकतीसो; (४२) चौबीसी; (४३) बीसी; (४४) अष्टक
- (४५) त्तुति; (४६) स्तवन; (४७) स्तोत्र; (४८) गीत; (४९) सज्जाय;
- (५०) चैत्यवंदन; (५१) देववंदन; (५२) बीनती; (५३) नगरकार; (५४)
- प्रसादी; (५५) संगल; (५६) सौक; (५७) वधाचा; (५८) गढ़ूली; (५९)
- हीयाली; (६०) गूहा; (६१) गजल; (६२) लावणी; (६३) छंद; (६४) नीसाखी; (६५) नवरसो; (६६) प्रवृण; (६७) बाहण; (६८) पारणो;
- (६९) पट्टावली; (७०) मुर्वावली; (७१) हमचडी; (७२) हींच; (७३) माला-
- मालिका; (७४) नाममाला; (७५) राममाला; (७६) कुलक; (७७) पूजा;
- (७८) गीता; (७९) पट्टाभिपेक; (८०) निर्वाण; (८१) संभवश्री विवाह वर्णन;
- (८२) गास; (८३) पद; (८४) संभरी; (८५) सपावलो; (८६) रसायन; (८७)
- सलहरी; (८८) नाद्रावला; (८९) दीपक (९०) प्रदीपिका; (९१) कुलड़ा;
- (९२) जेड; (९३) परिका; (९४) कल्पलता; (९५) लेख; (९६) विरह;
- (९७) मूँदडी; (९८) सत; (९९) मकाश; (१००) होरी; (१०१) तरंग;
- (१०२) तरंगिणी; (१०३) चौक; (१०४) हुंडी; (१०५) दरण; (१०६)
- विलास; (१०७) गरवा; (१०८) चौली; (१०९) अमृतभनि; (११०) इल-
- रियो; (१११) रसोई; (११२) कदा; (११३) भूलणा; (११४) जकड़ी;
- (११५) दोहा, कुडलिया, छप्पन आदि।

इन समस्त संज्ञाओं का विवरण देना इस लेख में संभव नहीं, अतः प्रधान संज्ञाओं का ही संक्षेप में सम्प्रीकरण किया जायगा।

(१) रास—राजस्थानी एवं गुजराती भाषा की घड़ी रचनाओं में सबसे अधिक रास-संज्ञक ही हैं। छोटी रचनाओं में सबसे अधिक गीत वा स्तवन हैं। रास-संज्ञक रचनाओं का निर्माण अप्रभ्रंश-काल से ही प्रारंभ हो जाता है। उपदेश-रसायन रास और संदेश रास अपभ्रंश की ही रचनाएँ हैं। इनमें से उपदेश-रसायन रास का नाम उसके रचयिता जिनदत्त सूरि ने केवल 'उपदेशरसायन' ही दिया है, परंतु उसके टीकाकार सूरि जी के प्रशिष्य के शिष्य जिनपाल उपाध्याय ने उसमें 'रासक' जोड़कर उसे 'उपदेशरसायन रास' संज्ञा दे दी है। यह प्रथं साधारण जैन जनता के लिये उपदेश के रूप में, विशेषतः उस समय प्रचलित अविधि को हटाने और विधि मार्ग का प्रचार करने के उद्देश्य से, पढ़ाटिकाबद्ध ८० ग्रेय पथों में रखा गया है। टीकाकार के कथनानुसार यह सब रासों में गाया जा सकता है। इस प्रथ के छत्तीसवें पथ में तालारासु और लड्डारासु नामक दो प्रकार के रासों का उल्लेख (इया गया है—

मूल—तालारासु वि दिति रथणिहि, दिवति वि लङ्घारसु भृं गुरिसिहि ।

टीका—तालारासकमपि न ददति आदा रजन्या प्रदीपोदोतेऽपि तदानीग्रहश्यसूक्ष्म-
पिणीलिकादिभ्यं सदेतुल्यात् । दिवसेऽपि लगुट्टरासं पुरुषैरप्यास्तां योगिन्द्रिः तस्यान्तविट्चेष्टा-
रुपत्वात् कदाचित् प्रमादवशान्मस्तकाशापातदेतुल्यात् ।

आशय यह है कि उस समय जैन मंदिरों में आवक आदि लोग रात्रि के समय तालियों के साथ (ताल देकर) रासों को गाया करते थे, उसमें जीवहिंसा की रंभावना के कारण रात्रि में तालारास का निषेध किया गया है।^१ इसी प्रकार दिन में पुरुषों के लियों के साथ लगुट्टरास करने (डंडियों के साथ नृत्य करते हुए रास गाने) को भी अनुचित घोषणा गया है। जैन मंदिरों में ये दोनों रास चौदहवीं शती तक खेले जाते थे, यह सं० १२२७ में रचित सप्तश्चेत्री रास से भली भाँति स्पष्ट हो जाता है—

यहसद यदृइ अमगर्संव तावद गुणवंता ।

जोयह इच्छु जिनह भुवणि मनि हरस घरंता ।

१—सं० १३०० के लगभग जिनेश्वर सूरि के आवक जगह रचित सम्यक्त्वमार्द चउफर्ह में इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है—तालारासु रथणि नहि देह, लङ्घा रसु मूलह बरिद्द ॥ २१ ॥ (भा० गु० फाव्यसंग्रह, पृ० ८०)

लाले तालारस पड़इ बहु भाट पढ़ता ।
 अनइ लकुटारख जोईइ खेला नार्चता ॥४८॥
 गवि हू उरेखा सिणगार सधि तेवड तेवडा ।
 नाचद खालीय रम्भै तउ भावहि रुडा ।
 नुलसित बाणी मधुरि सादि जिणगुज गायंता ।
 भाल भानु छुंद गीत मेलु वाजिप बाजंता ॥४९॥

(प्राचीन गुर्वर काव्यसंग्रह, चतुर्दशिरासु, पृष्ठ ५३)

रास-संशक दूसरी अपभ्रंश रचना संदेशरासक है। इसके रचयिता कवि अन्दुल रहमान ने चाँचे पद्य में इसका नाम 'संतेहय रासव' और उन्नीसवें पद्य में 'धनेह रासउ' दिया है, जो दोनों ही 'संदेश रासक' के आपभ्रंश हैं। 'रासव' शब्द संस्कृत 'रासक' का अपभ्रंश है। इसका परम् विकार य के स्थान में ए होकर 'रासउ' हो गया।

रासक का उल्लेख दर्थचरित (धाण भट्ट, सातवीं शताब्दी) में मिलता है। यह एक उपरूपकल्पिशेष है। वामभट्ट और हेमचंद्र ने काव्यानुशासन में रासक के संबंध में निम्नोक्त स्पष्टीकरण किया है—

डोमिका-भाग-प्रस्थान-भाणिका-प्रेरण-शिरक - रामझीइ-हल्डीसक - धीरदित-रासक-
 गोद्धी प्रभूतीनि गेयानि । (वामभट्ट)

गेय डोमिक - नाश-प्रस्थान-शिरक-भाणिक-प्रेरण-रामझीट-हल्डीसक - रासक - गोद्धी-
 धीरदित-राम फाआदि । (हेमचंद्र)

वामभट्ट के काव्यानुशासन की गुणि के अनुसार ये सब डोमिकादि गेय रूपक हैं—

पदार्थानिभायानि डोमिकादीनि गेयानि लाकाणि चिरन्तनैदत्तनि ।

इन्हीं में से रासक भी एक रूपक है जिसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

अनेकनर्तकीयोर्यं नित्यालस्यान्वितम् ।

आनन्दःपृष्ठियुगलादासकं मल्लोदत्तम् ॥

अर्थात् रासक एक ऐसा कोमल और उद्गुस गेय रूपक है जिसमें अनेक नर्तकियाँ होती हैं, अनेक प्रकार के ताल और लय होते हैं और ६४ तक के युगल होते हैं।

पीछे रास, रासु यथवा रासउ शब्द प्रधानतया कथाकाव्यों के लिये रुद्र-सा
हो गया और रसधान रचना रास मानी जाने लगी। 'रास' एक छंद विशेष भी
है। राजस्थानी में जो पर्वतीं रासो मिलते हैं वे बुद्ध-चर्णनात्मक काव्य के भी सूचक
हैं। इसी कारण राजस्थानी में रासों शब्द का प्रयोग लड़ाई-भगड़े या गढ़घड़-
गोटाले के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है। परंतु प्राचीन जैन रचनाओं के नामों में
जो रास शब्द का ही प्रयोग मिलता है, रासों का नहीं। कई पुरानी रचनाओं में
'रासु' भी मिलता है। सतरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध एवं अठारहवीं शती की कुछ
विजोदात्मक रचनाओं में 'रासो' और 'रासी' शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। उंदर रासों
और मांकड़ रासों आदि ऐसे ही रास हैं।^३

(२) संधि—अपभ्रंश काव्यों के सर्गों की संहा 'संधि' है। आचार्य देमचंद्र
ने महाकाव्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

पृथ्वीं प्रायः संस्कृताधाराहताप्तं शास्त्रम्यमाप्तानित्रद्विभिन्नवृत्तसारांश्वारसन्ध्यवरफल्यकव्यम्
तत्सन्धिशब्दायैवैचिन्योपेतं महाकाव्यम्।

अर्थात् महाकाव्य गुस्त-ग्रन्तिसुखादि संधियों एवं शब्द-आर्य की विचित्रता से
युक्त होता है तथा उस्कृत महाकाव्य सर्गों में, प्राकृत आश्वासों में, अपभ्रंश संधियों
में एवं ग्राम्य संधियों में निवृद्ध होता है।

'संधि' शब्द गूलतः अपभ्रंश महाकाव्य के सर्गों के लिये ही प्रयुक्त होता था,
किन्तु तेरहवीं-चौदहवीं शती में वह एक सर्वे वाले खंड काव्यों के लिये भी प्रयुक्त
होने लगा। अपभ्रंश में जिनप्रभ सूरि आदि की संधि-संज्ञक पंद्रह रचनाएँ
मिलती हैं। संधियों की परंपरा उन्नीसवीं शती तक निरंतर चलती रही। चौदहवीं
शती के तो दो ही संवि-काव्य मिलते हैं, किन्तु सोलहवीं से उन्नीसवीं तक राजस्थानी
एवं गुजराती मापा में वे पचासों की संख्या में शाम है, जिनमें राजस्थानी अधिक हैं
और उनमें भी खरतरगच्छीय विद्रानों के सबसे अधिक।^४

(३) चौपाई—रास के बाद वही रचनाओं में सबसे अधिक 'चौपाई' नामक
रचनाएँ मिलती हैं। चौपाई या चौपई का संस्कृत रूप चतुष्पदी भी प्रयुक्त मिलता

२—निशेष द्रष्टव्य—'रामेलन-पत्रिका', वर्ष ३५ अंक ७ में प्रकाशित लेखक का
'रासो शब्द की व्युत्तमि और प्रयोग' लेख।

३—निशेष द्रष्टव्य—'राजस्थानी', भाग १ (राजस्थानी साहित्य परिषद्, कलकत्ता से
प्रकाशित) में लेखक का 'अपभ्रंश मापा के संधि-काव्य और उनकी परंपरा' शीर्षक लेख।

है। मूलतः यह चौपाई छंदों में लिखी रचनाओं का नाम था, पर फिर 'शासो' की भाँति चरितकात्य के लिये रुढ़ हो गया। यहाँ तक कि कहीं-कहीं एक ही रचना नी संज्ञा किसी ने चौपाई लिख दी तो दूसरे ने राख। चौपाई छंद तो अपभ्रंश काव्यों में भी प्रयुक्त हुआ है, पर उन प्रथों का नाम चौपाई नहीं रखा गया।

चौदहवीं शती से राजस्थानी रचनाओं के नामों में इस संज्ञा का प्रयोग मिलने लगता है। नेमिनाथ चतुष्पदिका, सम्यक्तदमाई चौपाई—ये दो सोलहवीं शती की रचनाएँ प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं। इनमें से दूसरी रचना में लिखा है—‘हासामिसि चउपईयं धु कियउ’।

(४-५) फागु-ब्रमाल—बंधनं ऋतु का ग्रवा। उत्सव फालगुज महीने में होता है। उस समय नर-नारी गिलकर एक दूतरे पर अवीर आदि डालते और जल की पिंचकारियों से क्रीड़ा करते अर्थात् फाग खेलते हैं। जिनमें बसंत ऋतु के उल्जास का कुछ वर्णन हो या जो बसंत ऋतु में गाई जानी हो ऐसी रचनाओं को ‘फागु’ संज्ञा दी गई है। इन रचनाओं की यह विशेषता है कि इनमें शब्दालंकार के साथ यमकवंध अनुप्राप पाया जाता है। इस शैली को ‘फागुवंधी’ कहा गया है। कुछ पद्य उद्घारणार्थ उद्धृत किए जाते हैं—

३० अहिलयाडउ फाटण, पाटा नयर जे राउ।

दीरह जिहां नीभ जिणहर, गणहर रांद ठाउ॥८॥

(जै० ऐ० गु० काव्यसंचय, 'देवरकसुरि फाग', पृ० १५१)

‘अहिल रसति अरचीरू, रचीरू बरतं विलास।

दीर्ण धरह फरि दाहिण, दाहण हंसलु जाल॥१॥

पहुतीय तिदुणी हिच रति, वरति पहुती यसंत,

दह दिलि परसह दरिभल, निरभल व्या नम बंत॥२॥

(ग्रा० गु० काव्य, 'बसंत विलास', पृ० १५)

समरवि निभुवनयामणि, कामणि सिरि सिणगाइ।

पर्वियण वयणि जां वरसह, सरसह अमिउ अपाइ॥१॥

(जीरापल्ली पादवनय कागु, पृ० ६७)

यह शैली कागु-संबंधी सभी रचनाओं में नहीं अपनाई गई है। स्थूलभ्रंश फाग और पिछले अन्य फागों में भी यह नहीं है।

फागु और धमाल दोनों ही एह प्रसंग से संबंधित हैं, अतः कई रचनाओं की संक्षा किसी ने फागु दी है तो किसी ने धमाल। फागु और धमाल के छंद एवं रागिनी में अंतर होगा, पर ऐसे से जो दोनों नाम छोली के आसपास गाई जाने-वाली रचनाओं के लिये प्रयुक्त होने लगे। प्राचीन दिगंबर रचनाओं में 'धमाल' का प्राकृत रूप 'ढमाल' भी मिलता है। इधर लगभग डेढ़ सौवर्षों से छोटे-छोटे भजन डफ और चंगों पर गाए जाने लगे हैं, उनकी संक्षा 'होरी' भी पाई जाती है। फागु एवं धमाल-संक्षक रचनाएँ इससे काफी बड़ी होती थीं। यहुत से व्यक्ति मिल-कर चंग, ढोल, डफ और झाँझ आदि वाद्यों के साथ उन्हें गाते थे, तब एक कोलाहल सा मच जाता था, इससे बोलचाल में 'धमाल' का प्रयोग 'खोलाहल' या 'उपद्रव' के अर्थ में भी होता है।

फागु-संक्षक रचनाएँ धमाल से अविक्ष प्राचीन और अधिक संख्या में मिलती हैं। सं० १३५० के आठवाँ से ऐसी रचनाओं का प्रारंभ होता है। उपलब्ध फागु-काव्यों में खरतरणच्छीय जिनप्रतोष सूरि का जिनचंद सूरि फागु सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन हैं। अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ के खरतरणच्छीय यति राजदूर्घटा द्वारा रचित 'नेमिकाम' अंतिम कृति है। राजस्थानी एवं गुजराती में फागु-संक्षक लगभग ५० रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, जिनका परिचय 'जैन सत्यप्रकाश' (वर्ष ११, १२ एवं १४) में प्रकाशित है। धमाल-संक्षक रचनाएँ ८-१० ही त्रिंग हैं और ये सतरहवीं शताब्दी की ही अधिक हैं।

(६८) विवाहलो, धर्वल, मंगल--जिस रचना में विवाह का वर्णन हो उसे 'विवाहला' कहते हैं। जैन कवियों ने नेमिनाथ आदि तीर्थकरों और जैनाचार्यों के 'संयमश्री' के साथ विवाह के प्रसंग को लेकर यहुत से विवाहले रखे हैं। आचार्यों के लौकिक विवाह का तो फोई प्रसंग या नहीं, क्योंकि ये ब्रह्मचारी ही रहते थे; अतः उनके द्वारा प्रदर्श किए गए ब्रतों को ही संयमश्री रूपी कन्या मान उसी के साथ उनके विवाह का वर्णन इन काव्यों में रूपक के रूप में दिया गया है। उदाहरणार्थ, कवि सोममूर्ति द्वारा सं० १३३२ में रचित 'जिनेश्वरसूरि-संयमश्री विवाहनर्णन रात' में जिनेश्वरसूरि, जिनका धात्यावस्था का नाम अंगदकुमार था, जब दीक्षा लेने की तैयारी करते हैं तो पहले अपनी माता से दीक्षा की अनुमति माँगते हुए कहते हैं—

इहु संसार दुहर मंडार, ता इउं मेलिसु अतिहि असार ॥ ६ ॥
परिणिसु संजमसिरि वरनारी, माइ माइ य मञ्जु मणह पियारी ।

इसके पश्चात् जब चे दीक्षा प्रहण करने के लिये गुरुश्री के पास जाते हैं उस समय यान ले जाने, वाजे बजाने, जीगनवार (मोज) होने, चौबरी (मंडप) मँडने, और अग्नि-साक्षी से संयमश्री का पाणिप्रहण करने का वर्णन बहुत ही सुंदर रूपकों के साथ किया गया है। यहाँ कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

भगिनव ए चालिय जानउन, अंतहु तगइ लिकाहि ।
अप्पुणु ए धम्म चक्कवइ, हूयउ जानइ माहि ॥ १६ ॥
फारइ कारइ 'तेगिचंदु', मंडारिउ उच्छाहु ।
वाधर वाधर जान देखि, ललभिगि हरखु भयाहु ॥ १७ ॥
कुसलिहि खेमिहि जानउन, पहुतिय खेड मज्जारी ।
उच्छुकु हूपउ अइ पवरो, नाचह फरकर नारि ॥ २० ॥
जिगवइ दूरिण मुणि पवरो, देसण भगिय रतेण ।
फारिय जीमणवार तहि, जानह हरिस भरेण ॥ २१ ॥
संति जिणेसर नर भुयणि, मांडिउ नंदि सुचेहि ।
वरसिहि भविय दाण जलि, जिम गयणंगणि मेह ॥ २२ ॥
तहि 'अगयारिय नीपजइ, झाणातलि पजलंति ।
तउ संवेगहि निमियउ, हथलेवउ लुम्हुति ॥ २३ ॥
इणि परि 'बंधु' वर कुयरु, परिणइ संजम नारि ।
वाजइ नंदीयतूर घण, गूढिय घर घर चारि ॥ २४ ॥

उपाध्याय मेरुनंदन के जिनोदयसूरि-विवाहला में भी ऐसा ही सुंदर वर्णन है। उसमें विवाद करानेवाले जोशी का स्थान गुरुश्री को दिया गया है। ये दोनों काव्य हमारे 'ऐतिहासिक जैन काव्यसंप्रह' में प्रकाशित हो चुके हैं।

विवाहला-संश्लफ उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरि रचित अतरंग-विवाह अपन्नंश भाषा में उपलब्ध है। यह भी आध्यात्मिक विवाह है। आदि-अंत की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

प्रारंभ—पमाय गुणठाणु पाटणु तहि अहे भविपजिउ निष्पमु वर ए ।

चहुविह संधु जानउन कीय वहे वाहण सहस तीर्णग ॥ १ ॥

अतः — इशिगरि परिषद् जो अ जगि अहे लहार को मिलियुरि यातु ।

मंगलिकु द्वीर जिशप्रभ ए अहे मंगलिकु चहुयीह तंथ ए ॥

(अंतर्गत विवाह घबड दसंतरागेत भागीय)

इसकी रचना सं० १२०० के आलपास की है और इसके बाद ही जिनेवर्ह सूर्य-संयमधी रास का स्थान है। इस प्रकार पौदहर्यों शताव्दी से ऐसे काव्यों या लिर्माण होने लगता है और वीसवीं शताव्दी तक क्रम जारी रहता है। ऐसी लगभग ४ रचनाओं का असी तक पता चला है।

विवाह में गाए जानेवाले गीतों को 'धवल' वा 'मंगल' कहा जाता है और विवाह स्थान एक मांगलिक कार्य माना जाता है, अतः कई रचनाओं में विवाह के साथ 'धवल' शब्द भी नामांत पद के रूप में व्यवहृत है, जैसा कि उपर 'अंतरंग विवाह' के साथ यह जुड़ा हुआ मिलता है। धवल-संशक रचनाओं का प्रारंभ तेरहवीं शताव्दी से होता है। 'जिजपति मूरि धवल गीत' उपलब्ध रचनाओं में सबसे प्राचीन है, जो हमारे 'ऐतिहासिक जैन-फाव्य-हंगमा' में प्रकाशित है। अपमदेव-विवाह से की संज्ञा 'धवलवंघ' दी गई है। नेमिनाथ धवल, वासपूज्य धवल, आदि कुछ रचनाएँ 'धवल'-संशक प्राप्त हैं। हिंदी, राजस्थानी और बङ्गला में जो 'मंगल' संज्ञा वाले काव्य मिलते हैं, वे इसी परंपरा की देन हैं। राजस्थानी का प्राचीन काव्य 'हकमर्ण मंगल' बहुत प्रसिद्ध लोककाव्य है। पर इसका नामांत पद 'मंगल' आधुनिक है। मूलतः लेखक ने इसकी संज्ञा 'विवाहलो' ही दी है। इसकी सबसे प्राचीन प्रति सं० १६६९ की प्रस्तुत लेखक के संग्रह में है और वो प्रतियाँ उसे वीसवीं शती की प्राप्त हुई हैं। इसका मूल रूप बहुत छोटा था, परंतु समय-समय पर इसमें लोक-प्रियता के कारण परिवर्तन-परिवर्धन होते रहे। प्रकाशित संस्करण हमारी प्रति से कोई पंद्रह-शीतमुना नहीं गया है।^४

(६) येलि—राजस्थानी साहित्य में 'क्रिस्तन-हकमर्णी री येलि' बहुत प्रसिद्ध ग्रथ है। इस संज्ञा का स्पष्टीकरण करते हुए 'येलि' अर्थात् लता का सुंदर रूप का निश्चोक दो पथों में दिया गया है—

४—विवाहलो के उंचप में 'जैन सत्यप्रकाश', यर्ष ११-१२-१३ तथा १४ में प्रसुत लेखक एवं प्रो॰ जापद्विया के लेख दृष्टव्य है। अहगदामाद प्राच्यविदा 'परिपद' में भी लेखप का एतद्विषयक विवृत लेख पढ़ा गया था।

यत्कु तमु धीज भागतत वादो, भद्रिपाणी प्रियुदल मुख ।
मूल साल बहु अरथ मंडेते, गुरिर हरणि चढ़ि छाई तुल ॥ २९१
पत्र अवधर दल द्वाया जल परिमल नयरस तंगु पित्र अहोनियि ।
गधुकर रहिक मुभगति मंजरी मुगति फूल फूल मुमति मिसि ॥ २९२ ॥

इस संज्ञावाली पचास रचनाओं का मुख्य पता लग उका है, जिनमें पंद्रह राजस्थानी तथा दो गुजराती जैनेतर रचनाएँ (सीतावेलि और ब्रजवेल) हैं । हिंदी में भी 'मनोरथ बहरी' तुलसीदास और भगवान्दास रचित छात टुई है । २१ रचनाएँ जैन विद्वानों द्वारा रचित हैं, जिनमें वामठा श्रावक की 'धर्मगति वेलि' सबसे प्राचीन है । इसका समव सं १५२८ के लगभग है । इसी शताब्दी में सीदा, लावण्यसप्तष्ठ और सहजसुंदर ने भी वेलियाँ बनाईं । सतरहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक यह जगत जारी रहा । सं १८८९ के बाद इस संज्ञावाली कोई रचना उपलब्ध नहीं है ।^{१०}

(१०) सलोका—मूलतः संस्कृत 'श्लोक' शब्द से जनभाषा में सलोक वा शिलोका शब्द प्रचलित हुआ प्रतीत होता है । मध्यकाल में वर जब विवाह के लिये गुरुराल जाता तो उसकी वुडि की परीक्षा के लिये ५३ले शर का साला कुछ श्लोक कहता और किर उसकी प्रतिस्पर्धा में वर श्लोकों द्वारा अपनी प्रतिभा का परिचय देता था । पंद्रहवीं शती के लगभग की एक रचना हमारे निजी संग्रह में है जिसमें वर ने साले को संदोधन करते हुए अपने आराध्य देव, गुरु, मुलादेवी, गोत्र, मातापिता, भगर, उसके शासक, तुरंग, तोरण आदि के वर्णनात्मक श्लोक कहे हैं । लोकभाषा में उनकी व्याख्या भी है । इसके अंत में वरदान एवं सुखप्राप्ति के लिये गणेश और सरस्वती की प्रार्थना की गई है । उदाहरण के लिये विवाह-गंडप, कन्दा की प्राप्ति आदि के श्लोक कहाँ र साले का कुनूहल पूर्ण करने की सूचना वाले तीन एवं यहाँ दिए जाते हैं—

मृशनिमित्तभनोहरवेदिः प्रेत्यरादिकुत्तद्वलपूर्णः ।

गीतार्थिनसश्शीरणरम्यः स्थग्निक्षण इय मंडप एषः ॥ ८ ॥

अहो शास्त्र ! जेहनह मध्य चहूँ दिलि नूतन वेहि जवारा करित मंडित । लक्ष्मी करित अखंडित, चउरी चहुर दिचु चोर । प्रेत्यरादि प्रभुप रुहुहल संकुल । धवल-गंगाल-

५—उपलब्ध रचनाओं के संघर्ष में श्री कामिल्या का ऐसा 'जैन-धर्म-प्रकाश', नं ६५ अंक २ में प्रकाशित है ।

गीतगान-तत्पर-सुंदर-हुंदरी-जननमोहर । विचित्र पवित्र चंद्रोदय तहितु स्थगंशण-
विजित्य भंडपु सौभद ॥ ८ ॥

तप्ते सपः साधुजनाय दत्तं दानं स्मृता पञ्चनमस्त्रिया च ।

सतीर्थ्याचा विहिता च तेज एष्येन लब्धः भवतः स्वधेयं ॥ १६ ॥

अहो शालक ! मइ पूर्विलङ्ग भवि निर्भङ्ग वार भेदु तपु कीधउ । चारि त्रिया तपोधन
फिही भावना पूर्वकु दानु दीधउ । अनइ जिनशासन साह, पञ्च परमेष्ठि नमस्कार
स्मरधउ । धो शत्रुं जय गिरिनार तरीखइ तीर्थि जाइउ । श्री बीतराम पूज्या । हीणि पुण्य
फरिउ मइ ताहटी बहिण लाधी ॥ १६ ॥

नालिकेरदातमेकनानय तत्र गूगदातपञ्च तथैव ।

शालक प्रचुरकाव्यलंभयैः पूर्ण्यागि तद फौतुकं यथा ॥ १७ ॥

अहो शालक ! मइ किमइ गुप्तरहर्द नालिकेर नउ सतु । अनइ फोफल ना पांच
सय । टोयणि करह एक मडि दियह । तउ हउ सर्वलोक रमकु अनेकि उलोकि करिउ
आपग । शालक नउ कुतूहल पूर्यउ ॥ १७ ॥

विवाह के समय साले और वर के द्वारा सिलोक कहने की प्रथा प्राचीन है ।
विमल मंत्री के विवाह के प्रसंग में कवि लावण्यसमय ने विमलप्रवंध में इसका
उल्लेख इस प्रकार किया है—

पुहता तोरणि जोह लोक, सीख्या ताला कहि शलोक ।

विम नांगि थवणे सामली, ग्या राला ते दह दिशि टली ॥ १४ ॥

खरतरागच्छ के रांतिसागर सूरि और जिनसमुद्र सूरि के प्रवेशोत्सव आदि
के वर्णनवाली दो रचनाएँ ‘राजस्थानी’, भाग २ में प्रकाशित हो चुकी हैं । वे भी
“अहो शालक” संघोवन के साथ हैं, अतः वे भी उपर्युक्त विवाह-प्रसंग में वर के
द्वारा कही जाने के लिये ही बनाई गई प्रतीनि होती हैं ।

आगे चलकर उक्त प्रथा एवं तद्विषयक रथना के प्रकार में अंतर आ गया ।
गुजरात के उत्तरी भाग और राजस्थान में विवाह-प्रसंग में सिलोके कहे जाते हैं
जिन्हें वरातियों में से जानकार लोग मंदिर में देवी-देवताओं एवं बीरों के गुणों का
वर्णन करते हुए विशेष ढंग के साथ कहकर सुनाते हैं । इन सबकी शैली रूढ़ हो
गई है । राजस्थानी भाषा के छंदन्यंय ‘रवुनाथरूपक’ में वचनिका का दूसरा भेद
'सिलोको' घतलाते हुए जो उदाहरण दिया है, वह नीचे दिया जाता है । उपलब्ध
सलोकों में यही शैली प्रयुक्त मिलती है—

दूजो ऐट इण्ठरू लोभेहत तिलोको ही कहे हैं ।

बोले तीतापत् इतडीओ शागी, गुरुनर नामा नै सार्वे मुहागी ।

येसाबल इण्ठस्त चिमही सरठाई, बीरो अवराटी फीची वडाई ॥

पनुधररस यादक रामल जाथाता, पोररा भंगा मै विद्युत्ता वर्णला ।

पुणरे फर जोइ जीतय फल पायो, मानै धीखाविद इतरो मुरमायो ॥

इस शैली के बैन जैनतर पचासों राजस्थानी-गुजराती सिलोके प्राप्त हैं, जिनमें वीसों छप भी द्युके हैं । उठारहवीं शती से इनका रचनाक्रम चलता है और उनीं सर्वों के भी काफी सिलोके मिलते हैं । वीसवीं शती में यह प्रथा काल्पोर होने लगती है । अब नगरों में सिलोका कहने की प्रथा का अंत हो गया है, परंतु गाँवों में यह अभी तक प्रचलित है ।

(११-१२) संवाद-वाद-भगडो—कवि-हृदय विलक्षण होता है । वह अपनी कल्पना द्वारा, जिन वस्तुओं में वास्तव में कोई विवाद नहीं उनमें भी विरोधी भावना उत्पन्न करके उनके सुँह से अपने गुण और महत्व का और दूसरे की दीनता का वर्णन करता है । उन दोनों के प्रसंग से कवि की प्रतिभा का सुंदर परिचय प्रस्तुत हो जाता है । ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'संवाद', 'वाद' अथवा 'भगडो' रखी गई है । संख्त के 'संवादसुंदर' मध्य में भी ऐसे नीं संवाद संकलित हैं । राजस्थानी एवं गुजराती में ऐसी लगभग तीस रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो चौदहवीं शती से उनींसर्वों तक की हैं । जैनतर संवादात्मक रचनाओं में धीकानेर के महाराजा रायसिंह के आभित कवि बारहठ शंकर का 'दातार मूर दो संवाद' प्राप्त है । हिंदी भाषा में भी नरहरि आदि कवियों द्वारा कई संवादात्मक रचनाएँ लिखी गई हैं ।

(१५-१६) मालका-धावनी कक्षक—इनमें वर्णमाला के अक्षर ५२ मानते हुए प्रत्येक वर्ण से प्रारंभ करके प्रासंगिक पद्य रचे जाते हैं । ऐसी रचनाओं की संज्ञा 'धावनी' है । अष्टमश्लोक से ऐसी रचनाओं का प्रारंभ होता है । इसकी अन्य संज्ञा 'कक्षक' है । हिंदी में इसे 'अस्सरानट' भी कहते हैं । तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की ऐसी चार रचनाएँ—शालिपद्र कक्षक, दूषा मात्रिका, सम्यकद्वगाई चौपाई, मात्रिका चौपाई—प्राचीन गुर्जर काव्यसंग्रह में प्रकाशित हैं । ये धावनी के पूर्व रूप हैं । सोलहवीं शताब्दी से ऐसी रचनाओं का नाम 'धावनी' व्यवहृत हुआ है, यथापि आदि-अंत में कुछ अन्य पद्य जोहने से पद्यों की खंडया ५५, ५७, या ६० तक पहुँच रही हैं । कुछ

रचनाएँ मालूकाक्षरों के कम पर नहीं रखी गई, पर उनकी पद्य-संख्या ५२ से कुछ ही अधिक होने पर उनको भी 'वावनी' कहा गया है। हिंदी, राजस्थानी, गुजराती तीनों भाषाओं में जैन कवियों द्वारा रचित पत्रास्त के लगभग वावनियाँ हैं। भिन्न-भिन्न छंदों में रखी होने से इनके नाम दूहावावनी, सर्वेयावावनी, कवित्वावनी, कुण्डलिया-वावनी आदि रखे गए हैं और कुछ के नाम विषय के अनुसार धर्मवावनी गुणवावनी इत्यादि भिन्नते हैं। टीकमगढ़ से प्रकाशित 'मधुकर' पत्र में कई वर्ष पूर्व 'धावनी-संश्लक हिंदो रचनाएँ' शीर्षक लेख प्रकाशित हो चुका है। हिंदी भाषा की कवित्पय वावनियों, बारहस्त्रियों, वर्तीसियों आदि का विवरण लेखक द्वारा संपादित 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज', भाग ४ में दिया गया है जो अभी उपर रखा है। इनमें यर्णमाला के अश्रुओं का कम इस प्रकार रखा गया गिरावट है— औं (न सो सि द्धं) अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऋ ल, लू, ए, ऐ, ओ, औं, अं, अः, क, ख, ग, घ, ड, च, छ, ज, झ, ब, ट, ठ, ड, ए, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब्र, भ, म, थ, र, ल, व, श, प, त, द, ध्न।

(१७-८८) वारहमासा चांपासा— वारह महीनों के क्रष्ण-परिवर्तन, एवं विरह-माव को व्यक्त करनेवाली रचनाओं का नाम 'वारहमासा' है। जैन और जैनेतर दोनों प्रकार के वारहमासे से ज्ञानों की संख्या में मिलते हैं। साधारणतया एक-एक महीने का वर्णन एक-एक पत्र में होने से १५-२० पत्रों में ये रखे जाते हैं। पर कई वारहमासे बहुत बड़े भी हैं, जिनकी पद्य-संख्या ४५-५० से लेकर १०० से ऊपर तक पहुँच गई है। प्रकृति-वर्णन संबंधी रचनाओं में इन वारहमासों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। उपलब्ध वारहमासों में सबसे प्राचीन 'जिनधर्मसूरि वारह नांवउ' है, जिसकी पद्य-संख्या ५० है। यह तेरहवीं शताब्दी की रचना है और पाटन की तालपत्रीय प्रति में उपलब्ध है। नमूने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

तिहण मणि चूहामणिहि, वारहनावउं पमुहुरि नाहह।

निमुणेहु सुथगहु ! नाण सणादद पहिलउं सावण सिरि फुरिय ॥ १ ॥

कुवलय दल सागलं पथु गज्जइ नं महलु मंडल ज्ञुणि छज्जइ ।

विज्ञुलझी सवकिहि लघइ मणहर विस्थारेत्रि कला सु ।

अनु फरेविणु कलि केका रनु फिरि फिरि नाचहि मोरला ।

मेहणि दार हरिय छगिथार श्रीवण मधउ दिय नीलंदर

तियलिय नय मालइ फछिय ॥ २ ॥

वारहभासे नेमिनाथ और सूर्यभद्र सत्रंवी अधिक मिलते हैं। इसी प्रकार चार मास का वर्णन करनेवाले 'चौभासे' भी प्राप्त हैं।

(२६) पवाड़ा—किसी व्यक्ति के विशिष्ट कार्यों का वर्णन करनेवाली रचनाओं को 'पवाड़ा' कहते हैं। पंद्रहवीं शती में हीरादंद सूरि रचित 'विद्याविलास पवाड़ा' मिलता है। कुछ अन्य जैन पवाड़े भी प्राप्त हैं पर उनकी संख्या अधिक नहीं। सांड्याभूला के 'नागदग्न्य' प्रथ में 'पवाड़ा पन्नां तण्ड' शब्द मिलता है। बाद में महाराष्ट्र में पवाड़ों की परंपरा बहुत जोरों से प्रचलित हुई, पर यह रचना वीर-काव्य के लिये रुद्ध हो गया।^६

राजस्थानी भाषा में 'पावू बी' के पवाड़े बहुत प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े कसण एवं दीर रस से सरगोर हैं। इनमें से 'सोढ़ी जी रो पवाड़े' 'राजस्थानी-भारती,' वर्ष ३ अंक २ में प्रकाशित हो चुका है। इसी प्रकार कई अन्य पवाड़े भी राजस्थानी में प्रसिद्ध हैं। ये पवाड़े 'फड़' (= घटनाओं का दिग्दर्शन कराने वाला चित्रपट) को दिखाते हुए गाए जाते हैं।

(२०) चर्चरी—रास की भाँति ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि, गार्दे जानेवाली रचना को 'चर्चरी' संज्ञा दी गई है। विकलोवेशीय के अनुयां में अपश्रंश भाषा के कई चर्चरी पद पाए जाते हैं, इससे इस संज्ञा की प्राचीनता का पता चलता है। प्राकृत-पिंगल में चर्चरी नामक छंद भी घतलाया गया है। 'चर्चरी' और 'चार्चरी' इसके नामांतर हैं। जायसी में भी फागुन और होली के प्रत्यंग में चाचरि या चौचर का उल्लेख है। जिनदत्त सूरि जी ने जिनवल्लभ सूरि जी की सुनि में ४७ पद्यों की चर्चरी नामक रचना अपश्रंश में रखी है, जो अपश्रंश 'काव्यत्रयी' में प्रकाशित है। इसके पदचान्, जिनप्रः, सूरि, सोलण, जिनेश्वर सूरि और एक अशात कटां की, ये चार चर्चरियाँ चौदहवीं शती में रखी गईं। इनमें से सोलण बाली ३८ पद्यों की रचना प्रा० गु० काव्यतंग्मह में प्रकाशित है।^७

(२१-२२) जन्माभिप्रेक, फलश—तीर्थकरों के जन्म के अवसर पर उन्हें

६—इस तंत्रंध में विशेष जानकारी के लिये 'कल्पना', वर्ष १ अंक ५ में प्रकाशित लेखक का 'पवाड़ों की ग्राहीन परंपरा' शीर्षक लेख दृष्ट्य है।

७—विशेष द्रष्टव्य-अपश्रंश काव्यत्रयी, पृष्ठ ११४-१५ एवं 'जैन सत्यप्रकाश' वर्ष १२ अंक ६ में प्रकाशित श्री हीरालाल कामाइया का 'चर्चरी' शीर्षक लेख।

इंद्रादि देव मेस्शिस्तर पर ले जाकर स्नातक करते हैं, उस समय के भाव को प्रकाशित करनेवाली रचना को 'जन्माभिपेक' वा 'फलश' संज्ञा दी गई है। तीर्थकर की प्रतिमा को कलश से स्नान करते साथ वे रचनाएँ बोली जाती हैं। ऐसी लगभग १५ रचनाएँ चौदहवीं से सोलहवीं शती तक की प्रपलब्ध हैं। अब उनका स्थान पीछे की घनी हुई 'स्नानपूजा' ने ले लिया है, अतः इसका प्रचार नहीं रहा। इस विषय पर 'जैन सत्यप्रकाश', वर्ष १४ अंक ४ में प्रो० हीरालाल कापड़िया का 'जन्माभिसेय ने महावीर कलस' लेख प्रकाशित है।

(२३-२५) तीर्थमाला, चैत्य-परिपाटी एवं संघवर्णन—जिस रचना में जैन तीर्थों की नामावली हो उसे 'तीर्थमाला', जिसमें एक ही स्थान वा अनेक स्थानों के जैन मंदिरों की यात्रा का अनुक्रम से वर्णित हो उसे 'चैत्य-परिपाटी' वा 'परिवाढी', तथा जिसमें सायु-साव्य-शावक-शाविका चतुर्विध संघ के साथ की गई तीर्थयात्रा का वर्णन हो उसे 'संघवर्णन' संज्ञा दी गई है। तीर्थमाला तो प्राचीन भी मिलती है, पर चैत्य-परिपाटी चौदहवीं शताब्दी से ही प्राप्त है। संघवर्णन सतरहवीं शताब्दी से अधिक प्राप्त होता है। अनेक स्थानों की ऐतिहासिक सामग्री ऐसी रचनाओं में संकलित है। कई तीर्थमालाएँ बहुत विस्तार से लिखी गई हैं और उनमें भारत के प्रायः सभी जैन तीर्थों के वर्णन हैं। तीर्थयात्रा-वर्णनात्मक स्तरन भी छोटेन्डे अनेक मिलते हैं। प्राचीन तीर्थों का संग्रह 'तीर्थमाला-संग्रह', 'पाटण चैत्य परिपाटी' एवं ऐसी अन्य बहुत-सी रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अप्रकाशित रचनाएँ इसने संगृहीत कर ली हैं, वे यथासन्दर्भ प्रकाशित की जायेंगी।

(२६-२८) दाल, दालिया, चौदालिया, छुटालिया आदि—

इस रचना के गाने के तर्ज या देशी की संज्ञा 'दाल' है। सतरहवीं शती में जब रास, चौपाई आदि की रचना लोकगीतों की देशियों में होने लगी तब इनकी संज्ञा दालवट्ठ हो गई। वडे-वडे रासों में राताधिक दाले पाई जाती हैं। चार या छ। दालोंवाली छोटी रचनाओं को संग्रह के अनुसार चौदालिया या छुटालिया कहा गया है। अनेक प्रकार की देशियों वा तजों में रखे होने के कारण गुणसागर सूरि के 'हरिवंश रास' को 'दालसागर' भी कहा गया है। तेरहवीं से पंद्रहवीं तक की रचनाएँ चौपाई, रासा, भास, वस्तु, अवणी आदि छंदों में बनाई जाती थीं। प्राचीन रचनाओं में एक छंद के पूरे हो जाने पर एक 'कड़वक' का पूरा होना माना जाता था। इसी तरह जब दालों का प्रचार हुआ तो एक दाल के अंत में

शोहा या छंद देकर उते पूरा किया जाता था। ठालों में रचो जाने के कारण रचना को 'ठालिया' संज्ञा भी दी गई है।

ठालों को किस देशी के तर्ज पर गाना चाहिए, इसका निर्वेश उन ठालों के प्रारंभ में उस देशी की प्रारंभिक पंक्ति उद्घृत करके किया गया है। देशियों की प्रथम पंक्तियों के इन उद्घरणों से सहजों प्राचीन लोकगीतों के अस्तित्व का पता चलता है। श्री देसाई ने बहुत-सी देशियों का संग्रह 'जैन गुर्जर कविश्रो' के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित किया था। पर अत्री इस दिशा में अहुत कार्य शेष है।

(३०-३४) प्रथंध, चरित्र, संबंध, आद्यानक, कथा—चरित्र, आद्यानक और कथा प्रायः एकार्थवाची हैं। जो प्रथ किसके संबंध में लिखा गया है उसे कहीं-कहीं उसके नाम से उसका 'संबंध' या 'प्रथंध' कहा गया है।

(३५-४४) सतक, बहोत्तारी, सररी, छुटीसी, दत्तीसी, इफ्कीसो, इफतीसी, चौबीसी, दीसी, अष्टक आदि--

ये सब नाम रचनाओं के पदों की संख्या के सूचक हैं। इनमें से कई वर्तीसियाँ धारनी की भाँति वर्णमाला के वर्तीस अक्षरों से प्रारंभ होनेवाले पदों की भी हैं। छौबीसी और दीसी चौबीस तीर्थकरों और वीस विद्वरमानों के स्तवनों के संघर्ष रूप हैं।

(४५-५३, ८३) स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, गोत, उल्काय, चैत्यवंदन, देव-बंदन, धीमती, नमस्कार, पद आदि—

इनमें तीर्थकरों या अन्य जैन महामुरुणों के गुणों का वर्णन है। स्तुतिप्रधान रचनाओं को स्तवन, स्तुति, स्तोत्र वा गीत संज्ञा दी गई है। इनमें स्तुतियाँ चार पद्योवाली होती हैं, जिन्हें 'यूई' भी कहते हैं। चैत्यवंदन मंदिर में पंदन करने की क्रियाविशेष है। वैठाकर स्तवन करते समय पहले चैत्यवंदन पढ़ा जाता है। देव-वंदन पर्व-दिवसों के लिये विशेष अनुष्ठानरूप हैं। विनयप्रधान रचना को विहासिया धीमती कहते हैं। गेय पदों की संज्ञा गीत है। साधुओं वा सतियों के गुण वर्णन करनेवाले तथा दुर्गुणों के परिवार एवं सद्गुणों के स्वीकार के प्रेरणादायक गीत 'स्वाभ्याय' या 'सज्जाय' कहलाते हैं। 'पद' विशेष रूप से आभ्यासिक गीतों को कहते हैं। वे राग-रागिनियों में गाए जाते हैं।

(५७-५८) प्रभाती, मंगल, सांक, वधाया, गहैली आदि—प्रातःकाल गाए जानेवाले गीतों को 'प्रभाती' एवं 'मंगल' और संध्या तमय गाए जानेवालों को 'सॉफ्स' या 'सॉफ्टी' कहते हैं। आचार्यों के आगमन पर वधाई के रूप में गाए जानेवाले, मीतों को 'वधावा' वा 'वधावण' और आचार्यों के सम्मुख चावल के स्वरिक आदि की गहैली करते समय उनके गुणवर्णनादि के जो गीत गाए जाते हैं उन्हें 'गहैली' कहते हैं।

(५८-६०) हीयाली, गूढ़ा—जिन पदों का अर्थ गूढ़ हो, उन्हें 'गूढ़ा' कहते हैं। किभी वस्तु के नाम को शुभ रखते हुए, नाम को स्पष्ट करनेवाली विशेष वार्तों का वर्णन जिनमें किया गया हो ऐसी रचनाओं को 'हीयाली' या 'हरियाली' कहते हैं। हिंदी में इन्हें 'कूट' कहा जाता है। इनके द्वारा बुद्धि की परीक्षा की जाती है। रसों में पति-पत्री की परस्पर गोष्ठी का जहाँ वर्णन आता है वहाँ वे हीयालियों एवं गूढ़ाओं द्वारा परस्पर मनोरंजन एवं विनोद करते पाए जाते हैं। प्राचुर सुभापित-प्रथं 'बज्जालमण' में हीयाली बज्जा की पद्धति है। उससे तो हीयाली भी गूढ़ा जैसी ही एक-पद्धतिक रचना प्रतीत होती है। परंतु जैन कवियों की प्राप्त हीयालियाँ ५, ७ वा १० पदों तक की भी मिलती हैं। सोलहवीं शताब्दी से ऐसी हीयालियों का विशेष प्रचार हुआ। ये सैकड़ों की संख्या में मिलती हैं। लगभग पचास तो हमारे ही संप्रह में हैं। उनमें कई बड़ी सुंदर हैं। जैन मुनियों ने अपने नित्य के व्यवहार में आनेवाले ओघा, मुँहपति, स्थापनाचारी आदि से अंतिम हीयालियाँ भी बनाई हैं। ज्ञानसार जी रचित गूढ़ावाचनी प्रथं हमारी ज्ञानसार-प्रथाचली में छप चुका है।

(६१-६४) गजल, लावणी, छंद, नीसांणी आदि—जैन कवियों की गजल-संक्षक रचनाओं में नगरों और स्थानों का वर्णन है। इनकी रचना का एक विशेष प्रकार होता था। सभी गजलें उस एक ही शैली में रखी गई हैं। सबसे प्राचीन नगर-वर्णनात्मक गजल जटमल नाहर रचित 'लाहोर गजल' है, जो स. १६८० के आसपास की है। भाषा हिंदी है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शती में गजलें रचने का बड़ा प्रचार रहा है। लगभग चालीस गजलें मैंने संगृहीत की हैं। उनकी भाषा प्रधानतया हिंदी होने पर भी उनमें राजस्थानी के शब्दों का व्यवहार प्रचुरता से किया गया है। लावणी, नीसांणी और छंद भी रचना के विशेष प्रकार हैं। छंद जैन तीर्थकरों में पाश्वनाथ के अधिक मिलते हैं। वैसे लोकप्रान्य देवी-देवताओं के संघ में तो काफी संख्या में मिलते हैं। सत्तरहवीं से उन्नीसवीं शती तक इनका प्रचार अधिक रहा। लावणी अधिक प्राचीन नहीं मिलती।

(५५-६८) नवरसो, प्रवद्धसु, चाहण, पारणो आदि—जिस रचना में नौ रसों का वर्णन हो उसका नामांत पद 'नवरसा' मिलता है। स्थूलभद्र और नेमिनाश के दो श्री नवरसो ज्ञात हैं। 'प्रवद्धसु' और 'चाहण' उन रचनाओं के नाम हैं, जिनमें जहाज के रूपक का वर्णन होता है। भगवान् महावीर आदि तपस्त्रियों के पारणे का जिसमें वर्णन हो ऐसी रचना की संज्ञा 'पारण' रखी गई है।

(६६-७०) पट्टावली-गुर्वावली—इनमें जैत गच्छों की आचार्य-परंपरा का इतिहास संकलित किया गया है। पट्टपरंपरा वा शुद्धपरंपरा का वर्णन होने से इनका नाम पट्टावली वा गुर्वावली प्रसिद्ध है।

(७१-७२) हमचढ़ी-हीच—तालियों से ताल देते हुए और संगीत की लग के साथ पाँवों से टेका देते हुए रास की भाँति गोलाकार धूमते हुए जिस रचना को पुरुष गाते हैं उसे 'हीच' और जिसे ग्रियाँ गाती हैं उसे 'हमचढ़ी' कहते हैं। कभी-कभी पुरुष और जियाँ साथ-साथ भी गाती हैं। इस संदेश वाली जैत रचनाएँ दो-चार ही मिलती हैं।

(७२-७५ , माला, मालिका, नाममाला, रागमाला आदि—जिन रचनाओं में तीर्थंकरों के विशेषणों वा साधुओं के नामों की भाला गुंपित की गई हो उन्हें नाममाला, मुनिमालिका, आदि संज्ञा दी जाती है। रागिल के रूपकों के नामोंयाली रूपकमाला-संकेत दो जैन रचनाएँ सोलहवीं शती की प्राप्त हैं। जिन रचनाओं में राग-रागिनियों के नामों घो व्रथित किया द्यो उन्हें 'रागमाला' कहा जाता है।

(७६) कुलक—जिस रचना में किसी रास्तीय विधि की आवश्यक वाते संक्षेप में संकलित की गई हों या किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया हो उसकी संज्ञा 'कुलक' वा 'कुलड' की गई है। प्राकृत एवं अपभ्रंश में सैकड़ों कुलक मिलते हैं, जिनकी सूची संकलित करके मैते 'जैनधर्म प्रकाश', वर्ष ६४ अंक ८, ११, १२ में प्रकाशित की हैं। राजस्थानी में सोलहवीं-सतरहवीं शताब्दी के कुछ कुलक प्राप्त हैं।

(७७) पूजा—जैनागम रायपसेणीय सूत्र में तीर्थंकरों की मूर्ति में सतरह प्रकार की पूजन-विधि का वर्णन है। जंगूदीपपहुति आदि में तीर्थंकरों की जन्मामिपेक-विधि का विस्तृत विवरण है। गध्यकाल में अष्ट प्रकार की पूजा का पदा प्रचार रहा। इसके संबंध में प्राकृत भाषा में कथाग्रंथ भी मिलते हैं। उन पूजाओं में से स्नात्रविधि पहले संस्कृत में की जाती थी और पीछे अपभ्रंश के

जन्माभिषेक और कलश भी इसी विधि में सम्मिलित कर दिए गए। पंद्रहवीं शताब्दी तक तो यही क्रम चाल रहा, पर सोलहवीं में कवि देपाल ने तत्कालीन भाषा में स्नानविधि की रचना की। फिर इस संज्ञावाली प्रनेक पद्म रचनाएँ राजस्थानी और गुजराती में घनती चली गईं। अष्टप्रकारी पूजा भी पहले एक-एक श्लोक बोलकर कर ली जाती थी। पीछे से उसके विस्तृत वर्णनवाली पूजाएँ भी लोकभाषा में रची गईं। अन्य पूजाओं में भी इन आठ प्रकारों को महत्व दिया गया है। सच्चरभेदी पूजा का सतरहवीं शताब्दी में तपागच्छीय सकलचंद और स्वरत्तरगच्छीय साधुकीर्ति आदि ने सर्वप्रथम लोकभाषा में निर्माण किया। पूजाओं का प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी में बड़े जोरों से हुआ। फलतः पचासों विविध नामोंवाली पूजाओं का उन्नीसवीं शती से अब तक निर्माण होता रहा है।

(७८) गीता—भगवद्गीता का प्रचार विगत कई शताब्दियों से बढ़ता चला आ रहा है, अतः 'गीता' रात्रि की लोकप्रियता से आकर्षित होकर कुछ जैन विद्वानों ने इस नामांत पदवाली रचनाएँ भी की हैं, जिनका कुछ परिचय मैंने 'श्रमण', वर्ष २ अंक ९ में 'गीता-संज्ञक जैन रचनाएँ' लेख में दिया है।

(७९-८०) पट्टाभिषेक, निर्वाण, संयमश्री विवाह वर्णन शादि—जिस रचना में जैनाचार्यों के पट्टाभिषेक (आचार्य-पद-ग्राहि) का वर्णन हो उसे 'पट्टाभिषेक रास' एवं जिसमें उनकी स्वर्ग-त्रासि या निर्वाण वर्णन हो उसे निर्वाण तथा जिसमें दीक्षा-वर्णन की प्रधानता हो उसे 'संयमश्री विवाह वर्णन' संज्ञा दी गई है।